# अग्निशिखा

अखिल भारतीय पत्रिका

दिसम्बर २०१६

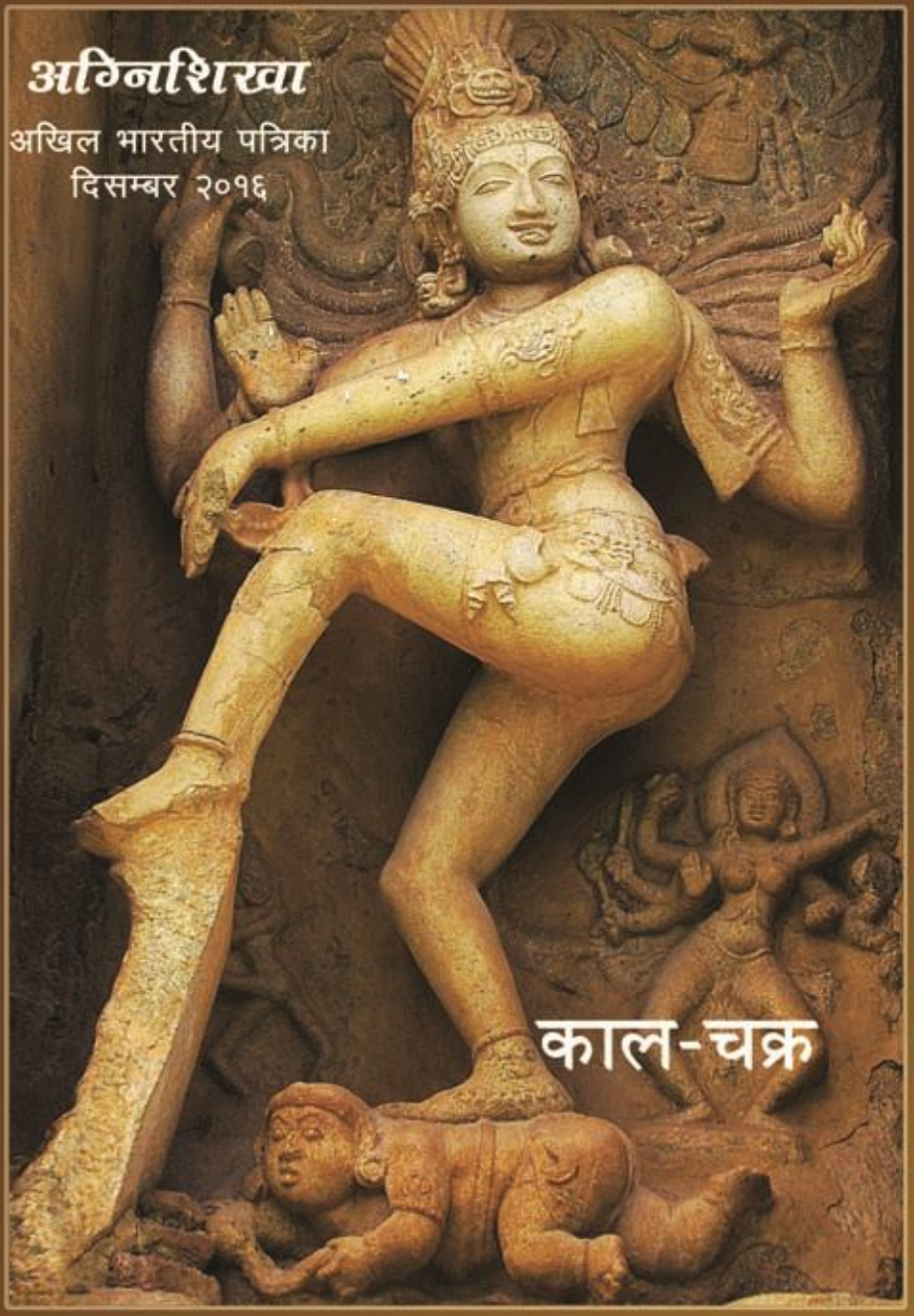

## काल-चक्र

अग्निशिखा दिसम्बर २०१६ वर्ष ४७, अंक ५, पूर्णांक ५५६

# विषय-सूची

सम्पादकीय/सन्देश ३

## काल-चक्र

(श्रीअरविन्द तथा श्रीमां के वचनों का संकलन)

विश्व-नृत्य (सॉनेट) श्रीअरविन्द ४
वासुदेवः सर्वम् इति ५
समय की तरंगें ११
जीवन का युद्धक्षेत्र १६
'काल' में प्रभु की क्रिया २४
महाविध्वंस-छिन्नमस्ता ४०

## 'पुरोधा'

दैनन्दिनी ४३
शाश्वत कौन, अक्षर कौन? (कविता) श्री आरसी प्रसाद सिंह ४६
एक कप्तान के साथ श्रीमां का पत्र-व्यवहार 'श्रीमातृवाणी' से ४८
प्रभु का प्यारा श्री रामेश्वर टांटिया ५०
सुग्रीव के श्रीराम वन्दना ५४

## मुखपृष्ठ

**वैश्व नर्तक—नटराज** (पत्थर में—११ हवीं सदी की कृति)
गंगाइ कोण्डा चोलापुरम्, तमिलनाडु

श्रीअरविन्द सोसायटी की मासिक पत्रिका
Website : www.aurosociety.org

---

**सम्पादिका : वन्दना**
**प्रकाशक : प्रदीप नारंग, श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी—६०५००२**
**मुद्रक : स्वाधीन चैटर्जी, श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, पॉण्डिचेरी**

# सन्देश

*जो कुछ किया जा चुका है वह उसकी तुलना में कुछ भी नहीं है जो करने के लिए बाकी है। पीछे न देखो... हमेशा आगे बढ़ते चलो। —श्रीमां*

*सम्पादकीय* : समय एक ऐसी पहेली है जो सारे जगत् की सभी चीजों पर शासन करती है। लेकिन अगर हम कुछ गहरी दृष्टि से देखें तो पायेंगे कि यह 'शाश्वत' का मात्र एक साधन है। वस्तुतः एकमेव अनन्त प्रभु ही शक्तियों की एक जटिल लीला के द्वारा विभिन्न स्तरों पर स्वयं को अभिव्यक्त करते हैं, और इस तरह वे कई विश्वों का निर्माण करते हैं, और प्रत्येक विश्व भिन्न देश और काल की रचना है। इस वैश्व क्रीड़ा में एक लय है; सृष्टि, धृति तथा संहार की एक निरन्तर गति है और यह गति व्यक्तिगत तथा समष्टिगत दोनों रूपों में निरन्तर चलती रहती है। चूंकि मनुष्य इस वैश्व लीला को समझ नहीं पाता अतः, हमारी सतही दृष्टि के लिए यह 'निरर्थक' क्रीड़ा प्रतीत होती है, लेकिन इसके पीछे शाश्वत प्रभु न केवल हमें थामे रखते हैं बल्कि निरन्तर हम सबको विकास तथा पूर्णता की ओर अपने साथ आगे ही आगे की ओर बढ़ाये भी लिये चलते हैं। शिव का नृत्य कभी भयंकर तथा प्रचण्ड तो कभी आनन्दप्रद तथा हर्षोन्मत्त होता है, और व्यक्ति, राष्ट्र तथा संस्कृतियों की नियति को उलट-पुलट देता है। उस वैश्व महा-नर्तक की लय और ताल पर ही सामान्य मनुष्यों तथा बलशाली सम्राटों का जन्म होता है, पुष्पों का सौन्दर्यपूर्ण प्रस्फुटन होता है, गतिमान् सूर्य तथा आकाशगंगा, साथ ही सभी चराचरों का उत्थान एवं पतन होता रहता है।

इस अंक में हम 'काल' के इन्हीं चक्रों के पीछे छिपे रहस्य पर श्रीअरविन्द तथा श्रीमां के वचनों का प्रकाश डालने का प्रयास कर रहे हैं।

# विश्व-नृत्य

*(कृष्ण का नृत्य, काली का नृत्य)*

विश्व-नृत्य की हैं यहां दो ताल।
सदा हम सुनते हैं काली के पदों का सञ्चरण
दुःख, पीड़ा तथा भाग्य की लयों को मापते हुए, होता है
यहां जीवन के संयोगों के भीषण तथा मधुर खेल का मूल्यांकन।

होता है साथ ही अवगुण्ठित दीक्षित का अग्नि-परीक्षण,
मृत्यु के आलिंगन के साथ क्रीड़ाशील है वीर आत्मन्,
भाग्य के भयानक अखाड़े में हैं मल्ल बाहुयुद्धरत
और बलिदान है भागवत कृपा का एकाकी पथ।

गुह्य रहस्यों की कुञ्जी बने मनुष्य के दुःख-ताप,
काल के धुंधले वीरानों से निकला सत्य का संकीर्ण मार्ग,
भौतिक के स्तूप से आत्मा के सप्त द्वारों का जागरण,
उसकी दुःखान्त विषय-वस्तु के हैं सामान्य प्रयोजन।

किन्तु कब होगा प्रकृति में कृष्ण का नर्तन,
उनके प्रेम, हर्ष, हास्य, माधुर्य के कलामुख का सञ्चलन?

—श्रीअरविन्द

# वासुदेवः सर्वम् इति

*वासुदेवः सर्वम् इति* का यही अर्थ है कि यह सारा जगत् भगवान् है, इस जगत् में जो कुछ है और इस जगत् से अधिक भी जो कुछ है, सब भगवान् है। *गीता* भगवान् की विश्वातीत सत्ता की ओर विशेषतः ध्यान खींचती है। क्योंकि, यदि ऐसा न किया जाये तो मन अपने परम लक्ष्य को देखना चूक जायेगा और बस विश्व के अन्दर जो कुछ है, उसी को सच मानेगा या फिर जगत् के अन्दर अभिव्यक्त भगवान् की किसी आंशिक अनुभूति से ही आसक्त हो जायेगा। जब कि *गीता* भगवान् की उस विश्व सत्ता पर जोर देती है जिसमें सभी प्राणी जीते और कर्म करते हैं; वस्तुतः जागतिक प्रयास का यही औचित्य है और यही है वह विराट आध्यात्मिक आत्म-सचेतनता जिसमें भगवान् अपने-आपको काल-पुरुष के रूप में देखते हुए जगत् का अपना कर्म करते रहते हैं। इसके बाद *गीता* ने भगवान् को मानव-शरीरनिवासी के रूप में ग्रहण करने की बात विशेष आग्रह के साथ कही है, क्योंकि सभी प्राणियों में वे ही वास करते हैं और अगर अन्तर्स्थित भगवान् को हम न पहचान पायें तो न केवल हम वैयक्तिक जीवन के दिव्य अर्थ को न समझ पायेंगे बल्कि हमारे अन्दर जो चरम आध्यात्मिक सम्भावनाएं हैं उनसे भी वञ्चित रह जायेंगे; और साथ ही, मानव आत्माओं के परस्पर-सम्बन्ध भी क्षुद्र, सीमित और अहंकारपूर्ण हो जायेंगे। अन्त में *गीता* ने विस्तार के साथ यह बतलाया है कि वस्तुतः संसार की सभी चीजों में प्रभु ही प्रकट हो रहे हैं, सभी के मूल में उन्हीं एकमेव भगवान् की शक्ति और ज्योति है क्योंकि सभी प्राणियों को इस रूप में देखना भी भगवान् का ज्ञान प्राप्त करने के लिए अत्यन्त आवश्यक है, इसी पर टिका रहता है समस्त प्रकृति और समस्त सत्ता का भगवान् की ओर पूर्ण रूप से मुड़ना, जगत् में भागवत कर्मों को मनुष्य द्वारा स्वीकारना और केवल तभी मनुष्य अपनी मानसिकता तथा इच्छा-शक्ति को भागवत कर्म के सांचे में ढाल सकता है और वह इस जगत् में रहते हुए भगवान् का प्रतिनिधित्व कर सकता है।

CWSA खण्ड १९, पृ. ३१६

## संहार प्रगति का पहला चिह्न है

*गीता* में प्रभु कहते हैं कि संहार ही मेरे कार्यों का मूल संकल्प है जिसे लेकर मैं यहां कुरुक्षेत्र के इस मैदान में, धर्म को कार्यान्वित करने के इस क्षेत्र में, यानी, मानव कर्म के इस क्षेत्र में खड़ा हूं—*धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे* —इसका प्रतीकात्मक अनुवाद हम 'मानव के कर्मक्षेत्र में'—ऐसा कर सकते हैं; यह एक विश्वव्यापी संहार है जो 'काल-पुरुष' या 'काल-आत्मा' क्रियान्वित कर रही है। श्रीकृष्ण *गीता* में जो कहते हैं वही मानव-जीवन पर लागू होता है। उनका कहना है कि मेरा एक भविष्यदर्शी प्रयोजन है जो चरितार्थ होकर रहेगा, भले मनुष्य उसमें भाग लें या न लें, यह उनका अपना चुनाव होगा। इस धरती पर मनुष्यों के द्वारा कोई भी कार्य किये जा सकने से पहले वह मेरे द्वारा सम्पन्न किया जा चुका है। मैं हूं 'महाकाल', और मुझे पुरानी रचनाओं को नष्ट करके एक नये, महान् और भव्य राज्य का निर्माण करना है।...

ये 'कालातीत' ही हैं जो 'काल' तथा 'विश्व-आत्मा' के रूप में अभिव्यक्त हुए हैं, इन्हीं से सभी कर्म सम्पन्न होते हैं। निश्चय ही जब प्रभु यह कहते हैं कि "मैं हूं जीवों का संहार करने वाला काल-पुरुष", तब उनका यह अर्थ नहीं होता कि वे केवल 'काल-पुरुष' हैं या यह कि 'काल-पुरुष' का सम्पूर्ण सारतत्त्व बस विनाश करना ही है, बल्कि यह कि वर्तमान समय में उनकी कार्य-प्रवृत्ति यही है। विनाश हमेशा सृजन के साथ कदम से कदम मिला कर चलता है, यानी, जगत् के स्वामी पुराने को समाप्त कर, नये की रचना करके ही अपना सुदीर्घ कार्य निरन्तर करते रहते हैं। प्रगति का पहला चिह्न संहार है। आन्तरिक दृष्टि से जो व्यक्ति अपनी निम्नतर स्व-रचनाओं को नहीं मिटाता वह महानतर जीवन की ओर नहीं उठ सकता। बाहरी दृष्टि से भी, जो राष्ट्र, समाज या जाति अपने जीवन के अतीत रूपों को नष्ट और परिवर्तित करने से बहुत कतराती रहती है, वह स्वयं ही नष्ट हो जाती है, गल-झड़ कर ध्वस्त हो जाती है और उसके ध्वंसावशेष में से अन्य राष्ट्र, समाज तथा जातियां निर्मित होती हैं। पुराने महाकाय जीवों का संहार करके ही मनुष्य ने पृथ्वी पर अपने लिए जगह बनायी। असुरों का वध करके ही देवता इस विश्व में भागवत विधान की निरन्तरता बनाये रखते हैं।

## क्रमविकास की कूच

जो कोई भी युद्ध तथा विनाश के नियम से छुटकारा पाने के लिए समय से पूर्व प्रयत्न करता है वह विश्व-पुरुष के महानतर संकल्प के विरुद्ध बेकार की कोशिश करता है। जो कोई अपने निम्नतर भावों की दुर्बलता के कारण उनसे मुंह मोड़ लेता है—जैसा कि आरम्भ में अर्जुन ने कुरुक्षेत्र के युद्ध में किया था, वह सच्ची वीरता को नहीं, बल्कि प्रकृति, कर्म तथा जीवन के कठोरतर सत्यों का सामना करने के लिए आध्यात्मिक साहस का अभाव दिखलाता है। इसीलिए हम देखते हैं कि अर्जुन के युद्ध से मुंह मोड़ने पर उसकी यह कह कर निन्दा की गयी कि वस्तुतः यह हृदय की दुर्बलता है, आत्मा की कमजोरी है। श्रीकृष्ण ने उससे कहा—*क्लैब्यं क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यम्।* यानी, चूंकि उसके अन्दर 'प्रकृति' के कठोर सत्यों का सामना करने का साहस नहीं है इसलिए वह अपना सच्चा गुण नहीं प्रकट कर पा रहा है। मनुष्य युद्ध के नियम के परे तभी जा सकता है जब वह अपनी अमरता के महानतर नियम को खोज ले। जब वह शुद्ध आत्मा के लोक में पहुंच जाये, तभी 'मृत्यु' के शिकंजे में फंसी हुई पृथिवी से मुंह मोड़ सकता है। यह एक वैयक्तिक समाधान है जिससे मनुष्यजाति तथा संसार के लिए कोई फर्क नहीं पड़ता, लेकिन कुरुक्षेत्र में श्रीकृष्ण अर्जुन के माध्यम से सम्पूर्ण जाति की बात कर रहे हैं, अतः, क्रमविकास की कूच में अकेला व्यक्ति नहीं, बल्कि सम्पूर्ण जाति का सहयोग अनिवार्य है ताकि प्रगति एक लकीर में न होकर, चहुंमुखी हो।...

CWSA खण्ड १९, पृ. ३८३-८५

## गुप्त सत्य

हमारे अन्दर कोई वस्तु ऐसी है जो प्रभु के नाम और निकटता में हमेशा आह्लाद का अनुभव करती है। उस वस्तु की गभीर अनुभूति ही हमें काली के भीषण रूप में भी मां की सुन्दर छवि का दर्शन कराती है, यहां तक कि विनाश के बीच भी सभी प्राणियों के हितैषी की रक्षक भुजाओं का, अनिष्ट के बीच भी एक शुद्ध, निर्विकार दयालुता का और मृत्यु के बीच भी अमरता के स्वामी का अनुभव कराती है। इसी कारण, दिव्य कर्म के स्वामी के आतंक से राक्षस, अन्धकार की दानवी शक्तियां ध्वस्त,

पराभूत तथा पराजित होकर भाग खड़ी होती हैं। लेकिन सिद्ध, यानी पूर्णता तथा सिद्धि को प्राप्त किये हुए लोग, जो शाश्वत को पहचानते तथा उनके नामों का गुणगान करते हैं तथा उनकी सत्ता के सत्य में निवास करते हैं, वे उनके प्रत्येक रूप के सम्मुख शीश नवाते हैं और जानते हैं कि प्रत्येक रूप किसकी प्रतिमा और प्रतीक है। अशुभ, अज्ञान, निशाचर तथा राक्षसी शक्तियां—जो नष्ट करने-योग्य हैं—उन्हें छोड़ कर और किसी भी चीज से भय खाने की वास्तव में कोई आवश्यकता नहीं। रुद्र यानी उग्रदेव की सभी भीषण गतियां वस्तुतः हमें पूर्णता तथा भागवत प्रकाश और सर्व-समावेशी की ओर ही लिये चलती हैं।

सचमुच ये परमात्मा, ये प्रभु केवल बाहरी रूप से ही विनाशक हैं, यानी, इन सभी सान्त रूपों को अपने अन्दर समेट लेने वाले वे 'काल' ही हैं, लेकिन अपने-आपमें वे अनन्त हैं, वैश्व देवताओं के ईश हैं, जिनके अन्दर जगत् तथा उसकी सभी क्रियाएं सुरक्षित रूप से प्रतिष्ठित हैं। वे ही सभी चीजों के मूल तथा सदा उत्पत्ति करने वाले स्रष्टा हैं, सृष्टि करने वाली शक्ति के उस रूप से अधिक महान् हैं जिसे ब्रह्मा कहते हैं; वस्तुतः वे 'काल-पुरुष' ही ब्रह्मा के त्रिरूप—स्थिति, संहार तथा सन्तुलन—द्वारा हमारी इस चित्र-विचित्र सृष्टि को प्रकट करते हैं। वास्तविक दिव्य सृष्टि तो शाश्वत है, यह वे 'अनन्त' ही हैं जो सान्त वस्तुओं में स्वयं को नित्य अभिव्यक्त करते रहते हैं, वे परमात्मा ही हैं जो स्वयं को आत्माओं की अनगिनत अनन्तता में, उनके कार्यों के चमत्कार तथा उनके रूपों की सुषमा में सदा ही कभी छिपाते तो कभी प्रकट करते रहते हैं। वे सनातन अक्षर हैं; वे सत् और असत् का, व्यक्त तथा अव्यक्त का, उन वस्तुओं का जो थीं, और जो अब नहीं प्रतीत होतीं, जो हैं और जिनका नष्ट होना भाग्य में बदा दीखता है, जो होंगी और फिर काल का ग्रास बन जायेंगी—इन सभी का द्वन्द्वात्मक रूप वे प्रभु ही हैं। परन्तु इन सबके परे जो हैं वे हैं 'तत्' या 'परम'—जो सभी परिवर्तनशील वस्तुओं को उस काल की—जिसके लिए सब कुछ सदैव वर्तमान है—अखण्ड नित्यता में धारण करते हैं। सचमुच काल और सृष्टि उसी अक्षर आत्मा के बाह्य रूप हैं। इसीलिए कहते हैं कि वे अमर 'आत्मा' और हम, सृष्टि के 'जीव', एक और समान हैं।
CWSA खण्ड १९, पृ. ३८९-९०

**क्या नव निर्माण का समय नहीं आ गया?**

अगर बहुत कुछ काल और भगवान् के तात्कालिक अभिप्राय पर निर्भर करता है तो अपने रामबाणों से चिपकने की बजाय 'उनके' प्रयोजन को जानना अधिक महत्त्वपूर्ण है। काल-पुरुष या काल-आत्मा अपने भयंकर कार्य के लिए उठ खड़ी हुई है—*लोकक्षयकृतप्रबुद्धः*—यानी एक जगत् या लोक का नाश करने के लिए कृतसंकल्प हो उठी है, और उस काल-पुरुष के आतंक, उसके महाबल और उसकी अप्रतिरोध्यता के सम्मुख कौन टिक सकता है भला? लेकिन 'वे' न केवल उस जगत् का नाश कर रहे हैं जो था, बल्कि 'वे' उस जगत् की रचना में भी लगे हैं जो होगा; इस कारण हमारे लिए यह अधिक लाभप्रद है कि 'वे' जो नष्ट कर रहे हैं उसे देख कर रोने-धोने और अपने ही खोल में सिमटने की जगह, 'वे' जिसका निर्माण करने में लगे हैं उसकी खोज करें, उसमें सहायक हों। लेकिन 'उनकी' प्रवृत्ति को समझना आसान नहीं होता और कई बार हम उन अस्थायी ढांचों की प्रशंसा में जुटे रहते हैं जो इस कुरुक्षेत्र के योद्धाओं के लिए मात्र तम्बू हैं, हम उन्हें ही स्थायी और भावी इमारतें मान बैठते हैं।

अतः सत्ययुग तथा कलियुग दोनों के महत्त्व के बारे में पण्डितों का कथन सत्य होता है जब वे यह कहते हैं कि सत्ययुग में और तरह का व्यवहार होता है तथा कलियुग में और तरह का, लेकिन इस ज्ञान के अभ्यास में वे हमेशा जागरूक नहीं रहते। वे यह भूल जाते हैं या जानते ही नहीं कि कलियुग विनाश तथा पुनर्जन्म दोनों का युग होता है, यह नहीं कि व्यक्ति उस प्राचीनता से भयंकर रूप से चिपटा रहे जिसे बचाया नहीं जा सकता। पण्डित अपने-आपको कलिवर्ज्य की प्रणाली की खाइयों में बन्द कर लेते हैं, लेकिन वे यह भूल जाते हैं कि हमें अतीत के सामञ्जस्यों को नहीं, उसकी कमजोरियों को त्यागना है। अतीत की जिस वस्तु को हमें बचा कर रखना चाहिये वह है एक ऐसा अस्थायी ढांचा जिसे हमें तब तक रखना है जब तक कि परिवर्तन के समुद्र के किनारे सत्ययुग की अधिक सत्य, अधिक स्थायी इमारत नहीं खड़ी हो जाती। उस इमारत के उठ जाने पर क्या ढांचे को गिरा नहीं देना होगा? सुनो, लहरों की उस गरज को जो अतीत के सारे मलबे को बहा ले जा रही है। नये निर्माण का समय आ गया है। हां, सचमुच आ गया है। देखो, मानवजाति की क्रिया, उत्सुकता

और तेजी को देखो—अवतारों, महान् विभूतियों को देखो जो एक के बाद एक चली आ रही हैं। क्या ये वे लक्षण नहीं हैं जो कह रहे हैं कि सभी महान् अवतार कलि के बाद के सत्ययुग को प्रतिष्ठित करने आ रहे हैं? CWSA खण्ड १२, पृ. ५५-५६

## चीजें भिन्न तरीके से की जा सकती हैं

... अगर हर एक जो कुछ जरूरी है वह करे और भरसक अधिक-से-अधिक करे तो एक ऐसी स्थिति तक पहुंच जाना सम्भव है जहां से हमेशा ऊपर की ओर ही गति होगी, जहां नये सिरे से शुरू करने के लिए कुछ नष्ट करने की जरूरत न होगी। यह अनिवार्य नहीं है परन्तु अभी तक हमेशा ऐसा ही हुआ है, ...

स्थिति ऐसी है कि प्रकृति ने जो कुछ किया है उसका सहारा लेने के लिए हम बाधित हैं, क्योंकि अभी तक वही काम करती आयी है। लेकिन साथ ही हम उसकी कार्य-प्रणालियों को पसन्द भी नहीं करते। इससे एक छोटी-सी आन्तरिक अनबन-सी पैदा हो जाती है (शायद इसे पारिवारिक अनबन कह सकते हैं!); लेकिन इससे चीजें कुछ कठिन बन जाती हैं, क्योंकि वह नहीं चाहती कि उसके होने के तरीके में बाधा डाली जाये। फिर भी, यदि व्यक्ति उसी तरह करता जाये जैसे वह चाहती है तो हमेशा वही कहानी चलती रहेगी। हमेशा इस तरह लुप्त होने और नये सिरे से शुरू करने की जरूरत रहेगी, क्योंकि यह उसका खेल है। इसलिए हमें उसे नष्ट करने से रोकने में सक्षम होना चाहिये। लेकिन अगर अकस्मात् एक अच्छा उपाय निकल आये जिससे प्रकृति में दिलचस्पी पैदा की जा सके और उसका सहयोग लिया जा सके तो उसके सहयोग के साथ सफल होना सम्भव होगा।

वास्तव में, जरूरी यह है कि उसे यह समझाया जाये कि चीजें उसके तरीके से भिन्न, अलग तरीके से भी की जा सकती हैं।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ५, पृ. २७४-७५

*हर नया प्रभात एक नयी प्रगति की सम्भावना लाता है।...*

*—श्रीमां*

# समय की तरंगें

## स्पन्दनशील अभिव्यक्ति

मुझे इस अभिव्यक्ति का अन्तर्दर्शन हुआ—स्पन्दनशील, धड़कती हुई अभिव्यक्ति का, मैं कह सकती हूं कि वह मानों खुल रही थी, सिकुड़ रही थी, दोबारा खुल रही थी, फिर सिमट रही थी... ऐसा चलता रहा, लेकिन फिर एक ऐसा क्षण आया कि वह इस तरह उद्घाटित हो गयी, उसके अन्दर इतना लचीलापन आ गया कि खुलने-बन्द होने का सिलसिला खतम हो गया; यानी, नयी चीज को ग्रहण करने के लिए पहले खुलना, उसे आत्मसात् करने के लिए स्वयं को समेट लेना—यह सब समाप्त हो गया। रूपान्तर लगातार होने लगा। *तेओं* कहा करते थे कि यह सातवीं सृष्टि है, इसके पहले छह प्रलय हो चुके हैं और यह सातवां सृजन है, और इस बार यह सम्भव है कि प्रलय के बिना ही इसका रूपान्तर हो जाये—वैसे जिस क्षण तुम शाश्वत चेतना के साथ एक हो जाओ उस क्षण से तुम्हें कोई फर्क नहीं पड़ता कि चीजें ऐसे घटित हों या वैसे, तब यह सब तुम्हारे लिए सचमुच कोई मायने ही नहीं रखता। वह तो सीमित मानव चेतना में ही यह आकांक्षा होती है, एक तरह की आवश्यकता होती है कि जिस जगत् को, जिन चीजों को वह देख रही है उसका अन्त न आ जाये, क्योंकि हमारे अन्दर कहीं एक ऐसी चीज होती है—भले हम उसके बारे में अचेतन हों—जिसे "शाश्वतता की स्मृति" कहा जा सकता है, और वही स्मृति यह चाहती है कि वर्तमान अभिव्यक्ति शाश्वतता की हिस्सेदार बने; लेकिन अगर तुम्हारे अन्दर शाश्वतता का भाव सक्रिय हो, हमेशा उपस्थित रहे तो तुम विलाप नहीं करते—जब तुम कोई फटी-पुरानी पोशाक हटा देते हो तो क्या उस पर आठ-आठ आंसू बहाते हो? (हो सकता है कि तुम उससे आसक्त हो, लेकिन तुम उस पर विलाप करने तो नहीं बैठ जाते।) वही समान चीज है : अगर कोई विश्व विलीन हो जाये तो इसका यही अर्थ है कि उसने अपने कार्य सम्पन्न कर लिये, वह अपनी सम्भावनाओं के शिखर पर पहुंच गया और उसे नये के लिए स्थान छोड़ देना होगा।

## पृथ्वी को नये सांचे में ढाला जा सकता है

जब तुम अपनी चेतना और अपने विकास में बहुत छोटे होते हो तो तुम्हारे

अन्दर एक बहुत बड़ी आवश्यकता और आकांक्षा रहती है कि यह पृथ्वी कहीं गायब न हो जाये, तुम चाहते हो कि यह हमेशा, हमेशा बनी रहे (भले उसमें रूपान्तर, परिवर्तन होते रहें, लेकिन हमारी यह धरती हमेशा रहे)। इससे कुछ अधिक आगे बढ़े, जब तुम चेतना में कुछ ज्यादा... परिपक्व हो जाते हो, तुम इसको इतना अधिक महत्त्व नहीं देते, और जब तुम अनन्त के भाव के साथ सतत सम्पर्क में आ जाते हो तो यह भगवान् के चुनाव का विषय बन जाता है, यह आवश्यकता नहीं बनी रहती, क्योंकि यह ऐसी चीज बन जाती है जो तुम्हारी सक्रिय चेतना पर असर नहीं डालती।

यह कलाकार के जैसा है, ऐसा कलाकार जो अपने-आपको गढ़ रहा है, जो स्वयं को अधिकाधिक पूर्ण बनाने के लिए कोशिशों पर कोशिशें करता रहता है, और एक क्षण ऐसा आता है जब वह नयी अभिव्यक्तियों को अपने अन्दर उतारने के लिए ग्रहणशील बन जाता है, उन्हें आत्मसात् कर व्यक्त कर सकता है, तब वह अपनी तूलिका से नूतनतम चित्र आंकेगा, वह पुराने का ही अधिक सुन्दर रूप न होगा। लेकिन आज हम उस काल में जी रहे हैं जब यह चुनाव का विषय बन गया है। दूसरे शब्दों में कहें तो इस सृष्टि को मनुष्यों के लिए इन्द्रियग्राही बनाया गया था, (उनके आनन्द के लिए इसे रचा गया था...) वह चीज अपनी सीमा पर पहुंच गयी है। अब यह तैयार है, यह इतनी नमनीय, ग्रहणशील और विस्तृत बन गयी है कि इसमें निरन्तर नयी शक्तियां अभिव्यक्त हो सकती हैं ताकि इसे नये सांचे में ढाला जा सके। अब किसी नयी चीज को बनाने के लिए पुरानी को रफा-दफा करने की जरूरत नहीं।

क्योंकि अब इस लोकोक्ति के लिए स्थान नहीं है कि "जिसका आरम्भ हुआ उसका अन्त भी अवश्य ही होगा..." यह अब मनुष्य की उन मानसिक रचनाओं की एक रचना-भर लगती है जो अब सच नहीं रहीं।

*एक शिष्य के साथ श्रीमां के वार्तालाप से* ४ मार्च १९६६

## उन्मीलन में दिव्य गति का अनुसरण करना सम्भव है

कहा गया है कि सृष्टि के सृजन की प्रक्रिया में, सृजन की क्रिया के बाद रक्षण की गति होती है और अन्त में विघटन या विनाश की गति होती है; और यह भी बहुत बार कहा गया है: "जो कुछ आरम्भ होता है वह समाप्त होता ही है," आदि, आदि।

वस्तुतः हमारे विश्व के इतिहास में एक के बाद एक छः काल आ चुके हैं जो सृष्टि से शुरू हुए, रक्षण की शक्ति द्वारा टिके, बढ़े और विघटन, विनाश द्वारा समाप्त होकर फिर से 'आदि स्रोत' की ओर चले गये, इसी को प्रलय कहते हैं; और इसी के कारण यह मान्यता है। लेकिन यह कहा गया है कि सातवीं सृष्टि उत्तरोत्तर प्रगति करने वाली सृष्टि होगी, यानी, सर्जन के आरम्भ-बिन्दु के बाद केवल रक्षण ही नहीं आयेगा, बल्कि क्रमशः अभिव्यक्ति आयेगी जो भगवान् को अधिकाधिक पूर्ण रूप में प्रकट करेगी, ताकि विघटन और 'आदि स्रोत' की ओर लौटने की जरूरत ही न रह जाये। और इसकी घोषणा की गयी है कि जिस काल में हम हैं वह ठीक सातवां है, अर्थात्, जिसका अन्त प्रलय, 'आदि स्रोत' की ओर लौटने, विनाश और विलोप से न होगा, बल्कि उसकी जगह ले लेगी सतत प्रगति, क्योंकि यह अपनी सृष्टि में भागवत 'मूल स्रोत' का अधिकाधिक उन्मीलन होगा।

श्रीअरविन्द यही कहते हैं। वे सतत उन्मीलन की बात करते हैं, यानी, भगवान् अधिकाधिक पूर्ण रूप से, उत्तरोत्तर सम्पूर्ण भाव से प्रगतिशील सृष्टि में अभिव्यक्त होते हैं। इस उत्तरोत्तर प्रगति का स्वभाव ही 'आदि स्रोत' तक लौटने को, विनाश को अनावश्यक बना देता है। जो कुछ प्रगति नहीं करता, गायब हो जाता है, और यही कारण है कि भौतिक शरीर मरते हैं, इसका कारण यह है कि वे प्रगतिशील नहीं हैं; वे अमुक समय तक प्रगति करते हैं, फिर वहां जाकर रुक जाते हैं और बहुधा कुछ समय के लिए वहां पर स्थिर रहते हैं, और फिर उनका ह्रास शुरू हो जाता है, और वे विलुप्त हो जाते हैं। यह इस कारण है कि भौतिक शरीर, भौतिक पदार्थ अपनी वर्तमान अवस्था में इतना लचीला नहीं है कि सतत प्रगति कर सके। लेकिन यह असम्भव नहीं है कि उसे इतना पर्याप्त लचीला बनाया जा सके कि वह शरीर को इतना पूर्ण बना दे कि फिर उसे विघटन, अर्थात्, मृत्यु की आवश्यकता न रहे।

केवल, यह उपलब्धि 'अतिमानस' के अवतरण के बिना नहीं हो सकती। अभी तक जितनी भी शक्तियां अभिव्यक्त हुई हैं, उनसे यह उच्चतर है। यह शरीर को ऐसा लचीलापन प्रदान करेगी कि वह सतत प्रगति कर पायेगा, अर्थात्, उन्मीलन में दिव्य गति का अनुसरण कर सकेगा।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ७, पृ. २२८-२९

## प्रगतिशील विश्व

कई शून्यवादी हैं, कई निर्वाणवादी और कई मायावादी; फिर सब प्रकार के धर्म हैं जो किसी-न-किसी रूप में शैतान के हस्तक्षेप को मानते हैं; फिर शुद्ध वैदिक धर्म है जो परात्पर भगवान् का शाश्वत आत्मप्रकाश है जिसमें वे क्रमशः विषयीभूत होते हैं। और अपनी रुचि के अनुसार, कोई अपने-आपको यहां, दूसरा वहां या अन्यत्र रखता है और उनके बीच सब प्रकार की अर्थछटाएं होती हैं। परन्तु श्रीअरविन्द ने जिसे पूर्णतम सत्य के रूप में अनुभव किया है उसके अनुसार, क्रमशः प्रगतिशील विश्व-सम्बन्धी इस परिकल्पना के अनुसार हम यह कहना चाहेंगे कि प्रत्येक क्षण जो कुछ घटित होता है वह 'सम्पूर्ण' के प्रकटीकरण के लिए यथासम्भव सर्वोत्तम होता है। यह एकदम न्यायसंगत है। और मैं समझती हूं कि किसी एक या दूसरे के प्रति, किसी एक प्रस्थापना या दूसरी के लिए कम या अधिक अभिघोषित प्रवृत्ति के कारण ही सब प्रकार के विरोध उत्पन्न होते हैं। जो लोग किसी "पाप" या किसी "भ्रान्ति" के बलात् प्रवेश को स्वीकार करते हैं और उसके परिणामस्वरूप पीछे खींचने वाली और आगे खींचने वाली शक्तियों के बीच संघर्ष को मानते हैं, वे सब स्वभावतः ही सम्भावना के विषय में वाद-विवाद कर सकते हैं। परन्तु हमें यह कहना होगा कि जो व्यक्ति आध्यात्मिक रूप से परात्पर 'संकल्प' या परात्पर 'सत्य' के साथ युक्त है उसके लिए प्रत्येक मुहूर्त आवश्यक रूप से जो भी घटित होता है वह सर्वोत्तम होता है। उसकी व्यक्तिगत सिद्धि के लिए सभी घटनाओं में ऐसा ही होता है। अहैतुक सर्वोत्तम को केवल वही व्यक्ति स्वीकार कर सकता है जो विश्व को एक आत्मविस्तरण के रूप में देखता है, जो विश्व को इस रूप में देखता है कि स्वयं परात्पर प्रभु इसके अन्दर अपने विषय में सचेत हो रहे हैं।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ४, पृ. २५६-५७

## विश्व की चक्राकार गति

कहा जा सकता है कि समस्त सृष्टि अपने 'स्रष्टा' के साथ एक हो जाने के लिए गति कर रही है, लेकिन यह एक तथ्य है कि पहले तो विकास की गति कुण्डलाकार गति है, और इस कुण्डल में असंख्य बिन्दु हैं और हर बिन्दु पर खड़ी, ऊर्ध्वाधर प्रगति होती है। और ठीक उसी बिन्दु पर, जरा ऊंचे स्तर पर पहुंचने के लिए, एक पूरा चक्कर लगाना पड़ता है...। इस तरह जब तुम और

चीजें करने में, अन्य बिन्दुओं पर पहुंचने में समय लगाते हो तो पहला बिन्दु मानों भुला दिया जाता है। मानव-इतिहास में यह चीज ऐसा रूप लेती है :

एक अद्‌भुत सभ्यता है जिसमें वैज्ञानिक दृष्टिकोण से, कला की दृष्टि से, राजनीतिक, सामाजिक और संगठन की दृष्टि से भी सब प्रकार की असाधारण चीजों को पैदा किया गया था। बहुत सुन्दर ऐसी सभ्यताएं थीं जो, उदाहरण के लिए, ऐसे महाद्वीप की गुह्य स्मृति छोड़ गयी हैं जो भारत को अफ्रीका से मिलाता था, जिसके अब कहीं कोई चिह्न भी बाकी नहीं हैं (यदि कुछ मानव-जातियां उस सभ्यता से बच रही हों तो और बात है)। इस प्रकार की सभ्यताएं अचानक लुप्त हो जाती हैं और तब पूरे-का-पूरा इतिहास सामने आता है, अन्धकार, अचेतना, अज्ञान से भरा हुआ, इस प्रकार की एकदम आदिम जातियों का इतिहास जो पशुओं के इतने अधिक नजदीक मालूम होती हैं कि यह प्रश्न उठता है कि क्या वास्तव में उनमें कोई फर्क है। और इस तरह अन्धकार में एक बहुत बड़ा छिद्र होता है और सब प्रकार की अव्यवस्थाओं में से गुजरना होता है। तब अचानक एक ज्यादा बड़ी उपलब्धि, अधिक गुणों से सम्पन्न, ज्यादा ऊंचाई तक उठ आती है...। मानों रात की उन घड़ियों ने, अंधेरे में किये कार्य की घड़ियों ने 'द्रव्य' को इस योग्य बना दिया था कि वह ज्यादा ऊंची चीजों को प्रकट कर सके। और उसके बाद फिर से अन्धकार, विस्मृति : धरती फिर से बर्बर, अन्धकारमयी, अज्ञान-भरी और कष्टदायक हो उठती है और फिर अचानक कुछ हजार वर्षों के बाद एक नयी सभ्यता आती है...।

तो अगर तुम इसे नीचे से देखो तो अपने-आपसे पूछते हो : "प्रगति कहां है?" क्योंकि वह हमेशा विलुप्त हो जाती है, ढह जाती है, सड़ जाती है और पूरी तरह नष्ट हो जाती है—और भुला दी जाती है। और मानवजाति फिर से बहुत साधारण, बेडौल और आधे-अंधेरे में औंधे मुंह पड़े रहने की चीज बन जाती है। और उसके बाद फिर से अचानक प्रकाश आता है। और जब व्यक्ति प्रकाश के बीच में होता है तो वह कहता है : "अब हमें यह प्राप्त हो गया है, यही सच्ची चीज है, अब हमें फिर से नहीं गिरना चाहिये...।"

अभी तक तो हमेशा पुनःपतन हुआ है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ५, पृ. २७३-७४

# जीवन का युद्धक्षेत्र

**कुरुक्षेत्र**

... वह कौन सी चीज है जो उस मनुष्य के लिए यह कठिनाई उपस्थित करती है जिसे इस संसार को—जैसा यह है—स्वीकार करना है और इसमें कर्म करना है और साथ ही अपने अन्दर, आध्यात्मिक जीवन में निवास करना है? संसार का वह कौन-सा पहलू है जो उसके जाग्रत् मन को व्याकुल कर देता है और उसकी ऐसी अवस्था हो जाती है जिसके कारण *गीता* के प्रथम अध्याय का नाम सार्थक शब्दों में 'अर्जुन का विषादयोग' पड़ा—वह विषाद और निरुत्साह जो मनुष्य तब अनुभव करता है जब यह संसार, जैसा है ठीक वैसा ही, अपने असली रूप में उसके सामने आता है और उसे इसका सामना करना पड़ता है, जब जगत् में प्रचलित न्याय तथा नेकी के भ्रम का परदा उसकी आंखों के सामने से हट जाता है, लेकिन उसका स्थान लेने कोई अधिक महान् चीज नहीं उतरती! तब उसका हाल त्रिशंकु-जैसा हो जाता है। महाभारत के युद्ध में अर्जुन का भी कुछ यही हाल था। एक तरफ था कुरुक्षेत्र का रक्त से सना भीषण युद्ध और दूसरी तरफ समस्त वस्तुओं के स्वामी का कालरूप-दर्शन, जहां उसने देखा कि वे ही 'महाकाल', जिन्होंने अपनी सृष्टि को रचा, उसे नष्ट करने के लिए प्रकट हुए हैं! अर्जुन ने उन अखिल विश्व के प्रभु के दर्शन किये जो विश्व के स्रष्टा हैं, पर साथ ही विश्व के संहारकर्ता भी, जिनका वर्णन प्राचीन शास्त्रकारों ने बहुत ही कठोर रूपक में इस तरह किया है, "ऋषि-मुनि तथा रथी-महारथी स्रष्टा के भोजन हैं और मृत्यु उनके भोज के मसाले!" सचमुच दोनों एक ही सत्य के रूप हैं। वही सत्य पहले जीवन के रूप में स्वयं को अभिव्यक्त करता है जहां जगत् और मानव के बीच युद्ध चलता रहता है, इसी का दूसरा रूप हैं—विराट् पुरुष—जो पहले सृजन फिर संहार के रूप में अपनी लीला को पूर्ण चक्राकार गति देते हैं।

CWSA खण्ड १९, पृ. ३९-४०

**जीवन एक युद्धक्षेत्र है।—श्रीमां**

## विनाश या सृजन?

युद्ध तथा विनाश का विश्वव्यापी सिद्धान्त न केवल हमारे जीवन के भौतिक पहलुओं से बल्कि हमारे मानसिक तथा नैतिक जीवन से भी सम्बन्ध रखता है। यह तो जानी-मानी बात है कि हमारा जीवन—चाहे वह बौद्धिक हो, सामाजिक हो, राजनैतिक या नैतिक हो—उसमें बिना संघर्ष के हम एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकते; यानी, जीवन जैसा है और इसे जैसा होना चाहिये, इन दोनों तत्त्वों के बीच हमेशा संघर्ष चलता रहता है। जब तक मनुष्य और संसार वर्तमान अवस्था में हैं, कम-से-कम तब तक के लिए तो आगे बढ़ना, उन्नति करना और पूर्णावस्था को प्राप्त करना, और साथ ही हमारे सामने जिस अहिंसा के सिद्धान्त को मनुष्य का उच्चतम और सर्वोत्तम धर्म कह कर उपस्थित किया जाता है, उसका पूरा-पूरा पालन करना असम्भव है। अहिंसा से प्रेरित होकर अगर हम यह कहें कि हम केवल आत्म-बल का प्रयोग करेंगे, युद्ध करके या भौतिक बल-प्रयोग से अपनी रक्षा का उपाय करके हम किसी का नाश नहीं करेंगे... अच्छी बात है, लेकिन जब तक हमारा आत्मबल प्रभावकारी न बन जाये तब तक अगर हम इसी तरह हाथ पर हाथ धरे बैठे रहेंगे तो मनुष्यों और राष्ट्रों का आसुरी बल हमें रौंदता रहेगा, हमारे टुकड़े-टुकड़े करता रहेगा, हम पर हावी होता रहेगा... और हमारी अहिंसा की दुहाई सुन-सुन कर शत्रु अपना काम और मजे से, बिना किसी विघ्न-बाधा के करते रहेंगे। हां, आदर्श का होना जरूरी है, बहुत जरूरी है, अगर किसी ने अहिंसा को अपना आदर्श-वाक्य बना लिया हो तो यह नहीं कहा जा सकता कि तब संहार न होगा, क्योंकि हर प्रकार का युद्ध करना मानव की घुट्टी में पड़ा है। और साथ ही यह भी एकदम सच है कि जब विघ्न-विनाशक रुद्र जाग पड़ते हैं, यानी जब आत्मबल अपना प्रयोग करना शुरू करता है तो वह अनिष्ट नहीं, इष्ट के लिए युद्ध होता है। वह तलवारों तथा तोप-बन्दूकों से कहीं अधिक विनाशकारी युद्ध होता है और हमें इसमें आनन्द मनाना चाहिये क्योंकि वह युद्ध बुराई को, बुराई से पलने वाली हर चीज को जड़ से उखाड़ देता है।

तब इसे विनाश कहा जाये या सृजन?

CWSA खण्ड १९, पृ. ४२

## भगवान् के दो रूप

... हमारे कहने का यह अभिप्राय है कि संग्राम और विनाश ही जीवन के अथ और इति नहीं हैं, कि सामञ्जस्य संग्राम से बड़ी चीज है, कि मृत्यु की अपेक्षा प्रेम भगवान् का अधिक अभिव्यक्त रूप है और यह भी कि हमें भौतिक बल का स्थान आत्मबल को, युद्ध का स्थान शान्ति को, फूट का स्थान एकत्व को, निगलने का स्थान प्रेम को, अहंभाव का स्थान विश्वभाव को, मृत्यु का स्थान अमर जीवन को देना चाहिये। भगवान् केवल संहारकर्ता ही नहीं बल्कि वस्तुतः सभी प्राणियों के मित्र हैं; केवल विश्व के त्रिदेव ही नहीं बल्कि परात्पर पुरुष हैं, करालवदना काली भी प्रेममयी और मंगलदायिनी माता ही हैं; कुरुक्षेत्र के स्वामी दिव्य सखा और सारथी हैं, सभी प्राणियों के मनमोहन हैं, अवतार श्रीकृष्ण हैं। इसमें सन्देह नहीं कि जगत् के इस संग्राम, संघर्ष और समस्त अस्तव्यस्तता में से होकर प्रभु हमें उस परात्पर की ओर ही बढ़ा रहे हैं जिन्हें भले अभी हम देख न पायें, लेकिन लक्ष्य पर पहुंचने के बाद हम पायेंगे कि आरम्भ से ही हमारा हृदय इसी की तो मनोकामना कर रहा है। लेकिन, उस पथ पर चलते हुए हमें जगत् को जैसा वह है, वैसा ही लेना होगा। और जैसे-जैसे, जहां-जहां से प्रभु हमें ले चलें, उन पर पूरा भरोसा रख कर अगर हम उनके संग-संग चलते चलें तो मार्ग तथा लक्ष्य स्वयं प्रत्यक्ष हो जायेंगे। हमें कुरुक्षेत्र को मानना होगा, मृत्यु से होकर जीवन का जो विधान है उसे स्वीकारना होगा, तभी हम अमर जीवन के पथ का पता पा सकेंगे; हमें अपनी आंखें खोल कर—अर्जुन की अपेक्षा कम व्यथित दृष्टि से—ईश्वर के कालरूप के दर्शन करने होंगे और इस विश्व-संहार को अस्वीकार करने, इससे घृणा करने या इससे डर कर भागने की प्रवृत्ति को छोड़ देना होगा।

CWSA खण्ड १९, पृ. ४५-४६

## धीर सभी में प्रभु के दर्शन करता है

धीर पुरुष जगत् की प्रत्येक घटना को सूक्ष्म दृष्टि से देखता है, और अगर वह उसके पीछे के सत्य को तुरन्त नहीं देख पाता तो प्रतीक्षा करता है कि उसके अन्दर ज्ञानोदय हो और वह घटना के पीछे के चरम उद्देश्य को समझ सके। इस तरह शान्त मन से प्रतीक्षारत, उसके हृदय में जीवन

के सत्य की पौ फटती है और छोटी तथा बड़ी प्रत्येक घटना में, शुभ और साथ ही अशुभ में भी उसके सम्मुख वस्तुओं का परम रहस्य खुल जाता है : सर्वज्ञ परमात्मा स्वयं को पक्षी की उड़ान में, चींटी की मृत्यु में और साथ ही ऐसे भूकम्पों में दर्शाते हैं जो महान् नगरों को पूरी तरह विध्वस्त कर देते हैं, ऐसी बाढ़ों में जो हजारों-लाखों को बेसहारा, बेघर छोड़ देती हैं। तब रुद्र और शिव, यानी, संहारक और पालक दोनों अपने-आपको एक ही रूप में दर्शाते हैं। योगी सभी चीजों में प्रभु के दर्शन करता है, न केवल सभी प्राणियों में बल्कि सभी घटनाओं में भी। वे ही बाढ़ हैं, वे ही भूकम्प हैं, वे ही वह 'महामृत्यु' हैं जो उच्चतर जीवन की ओर ले जाती है, वह पीड़ा हैं जो हमें उच्चतर आनन्द के लिए तैयार करती है। यह ऐसी चीज है जिसके बारे में तर्क नहीं किया जा सकता, इसे देखना होता है। *परिपश्यन्ति धीराः*। यह दृष्टि उसी को प्राप्त होती है जिसका हृदय शान्त हो और जिसका विवेक अविचलित।

CWSA खण्ड १३, पृ. ६१-६२

## निर्णायक युद्ध

एक बात स्पष्ट मालूम पड़ती है : मानवता तनाव की एक ऐसी व्यापक अवस्था में पहुंच गयी है—प्रयास में तनाव, क्रिया में तनाव, यहां तक कि दैनिक जीवन में भी तनाव—जिसमें अत्यधिक कार्य का बोझ भी वह अपने सिर पर लादे रखती है, पूरी धरती पर ऐसी सर्वव्यापक अशान्ति और व्याकुलता छायी रहती हैं कि ऐसा लगता है कि आज मानवजाति ऐसे बिन्दु पर पहुंच गयी है कि वह या तो इस तनाव से फट कर एक नयी चेतना में निकल आयेगी या फिर दोबारा अन्धकार तथा तमस् की खाई में जा गिरेगी।

यह तनाव इतना अधिक है और इतना स्पष्ट है कि अब यह फट कर रहेगा। इस तरह अब चल नहीं सकता। फिर भी, यह सब इस बात का निश्चित चिह्न है कि जड़-भौतिक में शक्ति, चेतना तथा बल का एक नवीन तत्त्व भर दिया गया है और उसी के दबाव ने इस चरम अवस्था को जन्म दिया है। इतिहास गवाह है कि जब कभी प्रकृति ने कोई महापरिवर्तन लाना चाहा, चारों तरफ भयंकर उथल-पुथल मची, राष्ट्र के राष्ट्र विनष्ट

हो गये; तबाही का ताण्डव नृत्य इस धरा पर न जाने कितनी बार हुआ, लेकिन वर्तमान काल में धरती पर एक नये तत्त्व, नयी चेतना का पदार्पण हो गया है, जिसे हम कुछ चुने हुए लोगों में देख सकते हैं, यद्यपि धीरे-धीरे इन चुने हुए लोगों का दायरा भी बढ़ता चला जा रहा है, यह नयी चेतना अब जगत् में एक ही बिन्दु या बस एक ही स्थान पर कार्य नहीं कर रही, बल्कि इसके चिह्न सारे जगत् के हर देश में दृष्टिगोचर हो रहे हैं : आज धरती पर ऐसे लोग हैं जो समस्याओं का एक नया, उच्चतर समाधान पाना चाहते हैं, जो एक अधिक विस्तृत, सर्वालिंगनकारी पूर्णता पाना चाहते हैं।

हम देखते हैं कि आज जगत् में अधिक व्यापक, अधिक विशाल, अधिक समूहात्मक प्रकृति के विचारों को क्रियान्वित किया जा रहा है। वैसे यहां दोनों ही चीजें एक साथ चल रही हैं—विनाश की बड़ी, बहुत बड़ी सम्भावना, ऐसे-ऐसे साधनों का अन्वेषण जो असंयमित रूप से विनाश की सम्भावनाओं को बढ़ा देते हैं, ऐसे महाविनाश की सम्भावना को जैसा जगत् ने कभी नहीं देखा; और साथ ही साथ हम देखते हैं कि जगत् में आज ऐसे व्यापक तथा महान् विचारों तथा संकल्पों का जन्म हो रहा है जो पहले की अपेक्षा कहीं अधिक विस्तृत, सार्वभौम तथा अधिक पूर्ण हैं, और अगर हम उन पर कान दें तो हमारा जीवन पूर्णतर, विशालतर, हर दृष्टि से समृद्धतर हो जायेगा।

आज जगत् में एक आरोहणकारी क्रम-विकास हो रहा है, इसलिए जहां सतत वर्धनशील पूर्णता तथा भागवत उपलब्धि की सम्भावना ज्यादा-से-ज्यादा सम्भव होती जा रही है वहीं संहार की अधिकाधिक शक्तियां उभर रही हैं, ऐसे विनाश की जो पागलपन तक पहुंचता दीख रहा है; अच्छाई और बुराई का यह द्वन्द्व-युद्ध इतने भीषण रूप से जगत् में चल रहा है कि पता नहीं कौन अपना लक्ष्य पहले पा लेगा। ऐसा लगता है कि प्राण-जगत् की सभी विद्वेषी शक्तियां, भागवत-विरोधी सभी शक्तियां धरती पर उतर आयी हैं और उन्होंने इसे अपना कार्यक्षेत्र बना लिया है; और साथ ही, एक नयी, उच्चतर, अधिक शक्तिशाली आध्यात्मिक शक्ति भी धरती पर एक नया जीवन लाने के लिए उतर आयी है। यही कारण है कि अब हम किसी शीघ्र समाधान की शुभ आशा कर सकते हैं।

*एक शिष्य के साथ श्रीमां के वार्तालाप से* जून १९५८

## भगवान् की लीला

विश्व को भगवान् की लीला कहते हैं!

*क्यों?*

क्यों? यह बोलने का एक ढंग है! तुम्हें लगता है कि यह मजेदार खेल नहीं है? ऐसे बहुत-से लोग हैं *(हंसी)* जिन्हें यह खेल मजेदार नहीं लगता। फिर भी, यह बोलने का एक ढंग है...। हम एक प्रकार से—यह सोचे बिना कि यह मजेदार है—कहते हैं : "शक्तियों का खेल है"; यह गति है, परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया है। सभी क्रियाएं शक्तियों का खेल हैं। इसलिए तुम इसे इस अर्थ में ले सकते हो। लेकिन, देखो इसका मतलब यह है कि भागवत 'शक्ति', भागवत 'चेतना' ने विश्व का और विश्व में सभी शक्तियों के खेल का सर्जन करने के लिए मूर्त रूप धारण किया है। इसका मतलब इतना ही है, और कुछ नहीं। मेरा मतलब अवश्य ही 'क्रीड़ांगण' में खेलने से नहीं है! इसके बहुत सारे अर्थ हो सकते हैं!

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ६, पृ. ३०४-०५

## भगवान् सभी में कार्य करते हैं

... भागवत 'शक्ति' अपने कार्य के लिए हर जगह काम करती है, जिस तरह मनुष्यों की गलतियों में उसी तरह उनकी सद्भावनाओं में, जिस तरह अनुकूल वस्तुओं द्वारा उसी तरह दुर्भावना द्वारा काम करती है। ऐसी कोई चीज नहीं है जो मिश्रित न हो; कहीं कोई ऐसी चीज नहीं है जिसे भगवान् का पूरी तरह से शुद्ध यन्त्र कहा जा सके और न ही कहीं कोई पूर्ण असम्भाव्यता है कि भगवान् पथ पर आगे बढ़ने के लिए किसी मनुष्य या क्रिया का उपयोग न कर सकें। अतः, जब तक चीजें अनिश्चित हैं, भगवान् हर जगह करीब-करीब समान रूप से कार्य करते हैं। अगर मनुष्य ऐसे पागलपन में जा पड़ें तो बात और है। लेकिन यह सचमुच एक "बड़ा भारी पागलपन" है, इस अर्थ में कि यह व्यक्तियों और इच्छा-शक्तियों के पूरे समूह को ऐसे क्रिया-कलाप की ओर धकेलता है जो उन्हें सीधा विनाश की ओर—उनके अपने विनाश की ओर ले जाता है। मैं बमों की या किसी शहर या जाति के विध्वंस की बात नहीं कह रही,

मैं उस विध्वंस की बात कह रही हूं जिसके बारे में *गीता* में यह कहा गया है, है न, कि असुर स्वयं अपने विध्वंस की ओर जाता है। यही होता है, और यह एक बहुत बड़ा दुर्भाग्य है, क्योंकि पाशविक रूप से विध्वंस करने की जगह बचा सकना, प्रकाशित करना, बदल देना हमेशा ज्यादा अच्छा होता है। और युद्ध का यह भयंकर चुनाव जो उसकी सच्ची बीभत्सता है, वह संघर्ष को इतने पाशविक रूप से और इतनी पूरी तरह से साकार कर देता है कि कुछ तत्त्व जो शान्ति के समय बचाये जा सकते थे, वे युद्ध के कारण, अनिवार्य रूप से नष्ट हो गये—और केवल मनुष्य और वस्तुएं ही नहीं, बल्कि शक्तियां, सत्ताओं का अन्तःकरण भी।

*वर्तमान राजनीति में भारत को क्या कोई विशेष भूमिका निभानी है?*

... भारत को जगत् में एक भूमिका निभानी है। लेकिन यह आदर्श की बात है और यह बात ऐसे परिवर्तन की मांग करती है जो... बहरहाल, जहां तक मैं जानती हूं, वह परिवर्तन अभी तक नहीं हुआ है। अगर वह सच्चा और निष्कपट होता तो ऊपरी, बाहरी दृष्टिकोण से भारत अपनी भूमिका निभा सकता। —'श्रीमातृवाणी', खण्ड ७, पृ. ३३६-३७

*... पृथ्वी पर जो कुछ होता है वह अनिवार्य रूप से उसे उन्नति की ओर ले जाता है। अतएव युद्ध साहस, सहनशीलता और निर्भीकता के विद्यालय हैं। ये एक ऐसे भूतकाल का नाश करने में उपयोगी हो सकते हैं जो अपना समय पूरा होने पर भी विलीन होकर अपना स्थान नयी वस्तुओं को देने से इन्कार करता है। युद्ध पृथ्वी को किसी आक्रमणकारी और विनाशक जाति से मुक्त करने का साधन भी हो सकता है ताकि न्याय और सत्य का शासन स्थापित हो सके—कुरुक्षेत्र का युद्ध इसका उदाहरण है। युद्ध संकट को उपस्थित करके एक अत्यधिक तामसिक चेतना की जड़ता को भी झकझोर सकता है तथा सुप्त शक्तियों को जगा सकता है। और अन्त में, यह शान्ति और युद्ध के भेद को दिखला कर तथा युद्धकाल के तथा उसका अनुसरण करने वाले भयंकर दुष्परिणामों के द्वारा मनुष्यों को एक ऐसा प्रभावकारी साधन ढूंढ़ने को प्रेरित कर सकता है जिसके द्वारा रूपान्तर का यह बर्बर और हिंसक रूप अनावश्यक कर दिया जाये। —श्रीमां*

*'काल' की अशान्ति पर वह विस्तृत, अविचल दृष्टि*
*समस्त अनुभवों का सामना अविकारी शान्ति से करती।*
*'सावित्री' से* *—श्रीअरविन्द*

# 'काल' में प्रभु की क्रिया

**महाकाल**

सभी आन्दोलनों में, मानव-कर्म के हर महान् समूह में 'काल-पुरुष' या जिसे यूरोपीय भाषा में *ज़ीटगी* कहा जाता है वे ही अपने-आपको प्रकट करते हैं। ये नाम ही अपने-आपमें बहुत सार-गर्भित हैं। काली, जो सबकी मां और सबका नाश करने वाली हैं वे ही वह शक्ति हैं जो गुप्त रूप से मानवता के हृदय में कार्य करती हैं, मनुष्यों, संस्थाओं और आन्दोलनों के सतत बहाव में अपने-आपको अभिव्यक्त करती हैं; महाकाल वह अन्तस्थ आत्मा हैं जिनकी ऊर्जा काली के अन्दर फैल जाती है और वे जगत् की प्रगति और राष्ट्रों की नियति को गढ़ती हैं। महाकाल की प्रेरणा ही अपने-आपको काल में परिपूरित करती है, और एक बार गति का आरम्भ हो जाये तो अन्तस्थ आत्मा की प्रेरणा, काल और मां उसका जिम्मा ले लेती, उसे तैयार करती, परिपक्व करती और पूर्ण बनाती हैं। जब 'काल-पुरुष' किसी निश्चित दिशा में गति करते हैं तो जगत् की सभी शक्तियों को निर्णीत प्रयोजन की ओर उमड़ने के लिए बुलाया जाता है। जो सचेतन रूप से सहायता करता है वे उसे उभारते हैं और जो बाधा देता है उसे वे और भी ज्यादा उभारते हैं, अन्धड़ से हिल्लोलित सागर की तरह कभी उठाते, कभी गिराते, कभी विजय और वृद्धि की तरंग पर चढ़ाते तो कभी पराजय और अवसाद के द्वारा गर्त में से ले जाते हैं। लेकिन इस सबके होते हुए भी गुप्त प्रेरणा पूर्वनिश्चित परिपूर्णता की ओर बढ़ती जाती है। मनुष्य चाहे सहायता करें चाहे प्रतिरोध, परन्तु 'काल-पुरुष' कार्य करते, सांचे में ढालते और आग्रह करते ही रहते हैं।

CWSA खण्ड १३, पृ. २९

**युगधर्म तथा मानवता के चार युग**

एक होता है युगधर्म; यानी, हम जिस युग में रहते हैं उसके धर्म के अनुसार उचित रूप से क्रिया करना। हर एक धर्म की क्रियाएं वस्तुतः अलग होती हैं।... जो चीजें एक युग में ठीक होती हैं, जरूरी नहीं है कि अन्य युग में भी उचित हों। हर युग में प्रभु एक सामाजिक प्रणाली

के स्थान पर दूसरी सामाजिक प्रणाली, एक धर्म के स्थान पर दूसरा धर्म, एक सभ्यता के स्थान पर दूसरी सभ्यता को लेकर आते हैं और इस तरह हर युग में वे हमें निरन्तर महान् से महानतर लक्ष्य की ओर बढ़ाये लिये चलते हैं, और इसी तरह मानव वस्तुतः अधिकाधिक पूर्णता की ओर बढ़ता रहता है—भले वह इस तथ्य से सचेतन हो या न हो...। जब अपनी वैश्व चक्राकार गति में वे जगत्-भर में एक स्थायी सामञ्जस्य स्थापित करते हैं तो वह मनुष्यों का सत्ययुग होता है। जब सामञ्जस्य डगमगाता है, जब उसे कठिनाई से बनाये रखा जाता है, जब वह मनुष्यों की स्वभावगत गति नहीं रहता बल्कि एक तरह से उसे उन पर लादा जाता है तब त्रेतायुग होता है। जब डगमगाहट रह-रह कर ठोकरें खाने लगती है और सामञ्जस्य को पग-पग पर बहुत ही सावधानी तथा कठिनाई के साथ बनाये रखने की भरसक कोशिश की जाती है तब द्वापरयुग होता है। जब विघटन होता है और सब कुछ नष्ट-भ्रष्ट हो खण्डहर का रूप ले लेता है, जब विभीषिका मुंह बाये खड़ी प्रतीत होती है तब कलियुग होता है। समस्त जीवन को प्रगति के इसी स्वाभाविक चक्र में से गुजरना होता है। हम कह सकते हैं कि सभी मानव धर्मों, समाजों तथा संस्कृतियों के ये चार युग होते हैं। सच कहें तो यह चक्राकार गति न केवल एकदम स्वाभाविक होती है, बल्कि साथ ही हितकारी भी होती है। यह न निराशावादी का औचित्य है न किसी दुःखद शून्य अथवा मूक-बधिर भाग्य के जाल में खो जाना ही है। यानी, यह कहना कि हम चीजों से आसक्त क्यों रहें अगर इनका अन्त एक दुःखद प्रलय में ही हो, हमारी जाति की समस्त उन्नति, समस्त उपलब्धियां अगर अन्तिम युग में आकर एकदम से धराशायी हो जायें तो उन उपलब्धियों का भला क्या मूल्य?—यह निराशावादी की दृष्टि है। प्रत्येक कलियुग के अन्दर एक सत्ययुग छिपा रहता है और यह भी सत्य है कि प्रत्येक कलि अन्दर ही अन्दर सत्य को तैयार करता रहता है। नये सृजन के लिए पुराने का विध्वंस जरूरी है; और जब नये सामञ्जस्य को पूर्ण बना लिया जायेगा तो वह पुराने तथाकथित पूर्ण सामञ्जस्य से कहीं अधिक महान् होगा। लेकिन कलियुग में हम कमजोर पड़ जाते हैं और तब हमारी अर्ध-सफलताएं असफलताओं में बदल जाती हैं, हम और अधिक हताश हो उठते हैं; तब हमारी ऊर्जा, हमारी श्रद्धा पर घनघोर बादल घिर आते हैं, तब जगत् में

युद्ध, कलह, अशान्ति, तनाव फेरे देने लगते हैं और हम कभी थोड़ा-सा सृजन करते हैं तो कभी पीछे ही पीछे घिसटते चले जाते हैं। तब मनुष्य हाहाकार कर उठता है कि लो, हमारी सारी उपलब्धियां हमारे हाथों से पानी की तरह फिसलती चली जा रही हैं। लेकिन अगर तब वे 'भागवत प्रेम' और 'प्रज्ञा' पर भरोसा रख सकें, अपनी दकियानूसी और संकरी धारणाओं के बन्धन से छूट सकें तो हाहाकार करने की बजाय खुशी से चिल्ला उठेंगे कि *सभी चीजों का पुनर्जन्म हो रहा है।*
CWSA खण्ड १२, पृ. ५४-५५

**काली—जगज्जननी**

जो बात कुरुक्षेत्र के बारे में सच्ची थी वही जगत् की सभी चीजों के बारे में, समस्त सृजन, संहार और संरक्षण के बारे में भी सही है, जिनसे लीला बनती है।

इस शिक्षा की महानता महान् लोगों के लिए है। जो लोग महान् परिवर्तन लाने के लिए नियुक्त हुए हैं वे 'काल-पुरुष' की शक्ति से भरे होते है। उनके अन्दर काली प्रवेश करती हैं और जब काली मनुष्य के अन्दर प्रवेश करती हैं तो वे सम्भावना या तर्क-संगति की परवाह नहीं करतीं। वे ही प्रकृति की वह शक्ति हैं जो तारागण को उनके चक्र में ऐसे ही घुमाती हैं जैसे कोई बालक गेंद को घुमाता है। और उस शक्ति के हाथों कुछ भी असम्भव नहीं है। वे *अघटनघटनपटीयसी*, असम्भव को सम्भव बनाने में पटु हैं। वह है *देवात्मशक्तिः स्वगुणैः निगूढा,* अर्थात्, देवात्मा की ऐसी शक्ति जो अपने ही कार्यों के गुणों के अन्दर छिपी है। उन्हें जो कार्य सौंपा गया है उसे पूरा करने के लिए उन्हें 'काल' के सिवाय और किसी चीज की आवश्यकता नहीं होती। वे 'काल' में विचरण करती हैं और वह गति ही अपने-आपको परिपूरित करती, अपने लिए साधन जुटाती और प्रयोजन सिद्ध करती है। यह अकस्मात् ही नहीं होता कि वे किसी मनुष्य में कम और किसी में अधिक कार्य करती हैं। वे किसी को इसलिए चुनती हैं कि वह उपयुक्त पात्र है और एक बार चुन लें तो प्रयोजन की सिद्धि तक न तो उसे छोड़ती हैं और न उसे ही अपने-आपको छोड़ने देती हैं।...

जब ऐसा लगता है कि किसी ने अपना कर्म छोड़ दिया है तो इसका

मतलब बस इतना ही होता है कि उसका वह काम पूरा हो गया है और काली ने उसे किसी और काम के लिए छोड़ दिया है। जब कोई ऐसा मनुष्य नष्ट हो जाता है जिसने कोई बड़ा काम किया हो तो मालूम होता है कि उसने अपने अन्दर की शक्ति का अहंकार के साथ उपयोग किया है। शक्ति अपने-आप उसे तोड़ कर चकनाचूर कर देती है; जैसे उसने नैपोलियन को तोड़ दिया। कुछ यन्त्रों को सम्भाल कर, संजो कर रखा जाता है, कुछ को तोड़-फोड़ कर एक ओर कर दिया जाता है, पर हैं सब यन्त्र ही। यह महापुरुषों की महानता है, यह बात नहीं है कि वे अपने ही बल-बूते पर महान् घटनाओं का निश्चय कर सकते हैं, बल्कि वे तो उस शक्ति के सेवायोग्य और विशेष रूप से गढ़े हुए यन्त्र हैं जो उनके कार्य का निर्णय करती है। मीराबो ने फ़रासीसी क्रान्ति में जितना योगदान दिया था उतना कोई और नहीं दे सकता था। लेकिन जब वह उसके विरोध में खड़ा हो गया और राजा का एक सहारा बन गया तो काली ने मीराबो पर अपना पैर रख दिया और वह गायब हो गया, तो क्या इससे क्रान्ति रुक गयी या उसका चक्र पीछे को हट गया? क्रान्ति चलती रही क्योंकि वह 'काल-पुरुष' की अभिव्यक्ति और भगवान् की इच्छा थी।

हमेशा ऐसा ही होता है। जिन्हें यह घमण्ड था कि बड़ी घटनाएं उनकी क्रियाएं हैं क्योंकि उनके आरम्भ में इनका हाथ था, वे 'काल' के गढ़े में जा गिरे और अन्य लोग उनकी टूटी-फूटी ख्याति को रौंदते हुए आगे बढ़ गये। बचते केवल वे ही हैं जिन्हें काली आगे बढ़ा देती हैं और जो नियति के साथ शर्तें नहीं लगाते। व्यक्तियों की महानता अन्तःस्थित शाश्वत ऊर्जा की महानता है।

CWSA खण्ड १३, पृ. ३१-३२

*... शाश्वत की लीला में बड़े भयंकर क्षण भी आते हैं और सुन्दर, मधुर क्षण भी। वृन्दावन की रास-लीला कुरुक्षेत्र के मृत्यु-नृत्य के बिना पूरी नहीं होती। हर एक जगत् की उस सुसंगत गतिविधि का भाग है जो दुःख और पाप को शिवम्, शान्तम्, शुद्धम्, आनन्दम् में रूपान्तरित कर असंगति से संगति की ओर, घृणा और विसम्वाद से प्रेम और भ्रातृभाव की ओर, अशुभ से विकास-क्रम की परिपूर्ति की ओर ले जाता है। —श्रीअरविन्द*

**दो नियम कठिनाई को कम कर सकते हैं**

हमें अपने जीवन को अपनाना होगा और साथ ही सारे जीवन का रूपान्तर भी करना होगा; समस्त जीवन को अतिमानसिक प्रकृति में अवस्थित आध्यात्मिक सत्ता का एक अंग, रूप एवं समुचित अभिव्यक्ति बनना होगा।...

जीवन के उन सभी रूपों को, जो परिवर्तन को नहीं सह सकते, लुप्त हो जाना होगा, जो इसे सहन कर सकते हैं केवल वे ही जीवित बचे रहेंगे और आत्मा के राज्य में प्रवेश करेंगे। भागवत शक्ति कार्य कर रही है और वह हर क्षण चुनाव करेगी कि क्या करना है या क्या नहीं करना है, किसे क्षणिक या स्थायी रूप से ग्रहण करना है और किसे क्षणिक या स्थायी रूप से त्याग देना है। यदि हम उसके स्थान पर अपनी कामना या अपने 'मैं' को नहीं ला बिठाते—और इस बारे में आत्मा को सदा जाग्रत्, सदा सावधान, दिव्य मार्गदर्शन के प्रति सचेतन तथा हमारे अन्दर या बाहर से होने वाले अदिव्य कुपथप्रवर्तन के प्रति प्रतिरोधपूर्ण रहना होगा—तो वह शक्ति पर्याप्त है तथा अकेली ही सर्वसमर्थ है और वही हमें ऐसे मार्गों एवं ऐसे साधनों से कृतार्थता की ओर ले जायेगी जो मन के लिए इतने विशाल, इतने आन्तरिक और इतने जटिल हैं कि यह उनका अनुसरण ही नहीं कर सकता, उनके सम्बन्ध में आदेश-निर्देश देना तो दूर रहा। यह एक दुर्गम, विकट एवं खतरों से भरा हुआ पथ है, पर इसके सिवाय और कोई पथ है भी नहीं।

*केवल दो ही नियम ऐसे हैं जो कठिनाई को कम कर देंगे और विपदा का निवारण करेंगे। हमें उस सबका परित्याग करना होगा जिसका स्रोत अहंकार में, प्राणिक कामना, कोरे मन और उसकी अत्यभिमानपूर्ण तर्कणा और अक्षमता में है, तथा उस सबका भी जो अविद्या के इन प्रतिनिधियों की सहायता करता है।* हमें अन्तरतम आत्मा की वाणी, गुरु के निर्देश, परम प्रभु के आदेश और भगवती मां की क्रियाप्रणाली का श्रवण और अनुसरण करना सीखना होगा। जो कोई शरीर की कामनाओं तथा दुर्बलताओं से, क्षुब्ध-अज्ञानयुक्त प्राण की तृष्णाओं और वासनाओं से, तथा महत्तर ज्ञान की शान्ति और ज्योति को न पाये हुए वैयक्तिक मन के आदेशों से चिपटा रहता है वह सच्चे आन्तरिक नियम को नहीं ढूंढ़ सकता और दिव्य

चरितार्थता के मार्ग में रोड़े अटका रहा है। जो कोई तमसाच्छन्न करने वाली उन शक्तियों को जान लेने तथा त्यागने और अन्दर तथा बाहर विद्यमान सच्चे मार्गदर्शक को पहचानने तथा उसका अनुसरण करने में समर्थ है वह आध्यात्मिक नियम को खोज लेगा और योग के लक्ष्य पर पहुंच जायेगा। CWSA खण्ड २३, पृ. १८६-८७

## भागवत कृपा नये जगत् के द्वार खोल देगी

एक काल था—बहुत समय नहीं हुआ—जब मनुष्य की आध्यात्मिक अभीप्सा एक निश्चल, निष्क्रिय शान्ति की ओर मुड़ी हुई थी, इस संसार की सभी चीजों से अछूता मनुष्य, संघर्ष से बचता हुआ, यानी, इस भवसागर की कठिनाइयों से वह परे निकल जाना चाहता था ताकि उसे किसी भी तरह का प्रयास न करना पड़े। वह आध्यात्मिक शान्ति थी जहां तनाव, संघर्ष तथा प्रयास के अन्त के साथ-साथ, सभी तरह के दुःख-दर्द भी समाप्त हो जाते थे, और इसे आध्यात्मिक तथा दिव्य जीवन की सच्ची तथा अद्वितीय अभिव्यक्ति माना जाता था। इसे ही भागवत कृपा, भागवत सहायता, भागवत हस्तक्षेप माना जाता था। और आज भी, तीव्र व्यथा, तनाव तथा अतिदबाव के इस काल में भी, यह उत्तम शान्ति ही सर्वसहायक है, इसे सम्मान के साथ स्वीकारा जाता है, इसका विशेष स्वागत किया जाता है, यही सान्त्वनादायी है और मनुष्य इसी की आशा करते, इसे ही चाहते हैं। कइयों के लिए आज भी भागवत हस्तक्षेप और भागवत कृपा का चिह्न यही शान्ति है।

तुम जो कुछ प्राप्त करना चाहो, सचमुच आरम्भ में तुम्हें इसी पूर्ण तथा अक्षर शान्ति को ही स्थापित करना होगा—किसी भी कार्य के लिए यह अनिवार्य आधार है; लेकिन अगर तुम ऐकान्तिक रूप से वैयक्तिक या अहंकेन्द्रित मुक्ति चाह रहे हो तो बात यहीं समाप्त हो जाती है। अगर तुम यहीं नहीं रुकना चाहते तो भागवत कृपा का एक और पहलू भी है जो सभी बाधाओं पर विजयश्री पा लेगा, वह पहलू जो सम्पूर्ण मानवजाति को एक नयी उपलब्धि के क्षितिजों की ओर ले जायेगा, एक नये जगत् के द्वार खोल देगा; इससे न केवल कुछ चुने हुए ही भागवत उपलब्धि का लाभ पायेंगे, बल्कि उनके प्रभाव, उनके उदाहरण तथा उनकी शक्ति के द्वारा बाकी

मानवजाति भी एक नये तथा अधिक महान् जीवन के प्रति जाग जायेगी।

यह कृपा भावी उपलब्धियों के क्षितिजों को खोल रही है, उन सम्भावनाओं को उजागर कर रही है जिनके द्वारा मानवजाति का एक पूरा समूह, सचेतन अथवा अचेतन रूप में उन नयी शक्तियों के प्रति खुल रहा है, उसे उच्चतर, अधिक सामञ्जस्यपूर्ण तथा अधिक पूर्ण नूतन शक्तियों की ओर उठाया जा रहा है... और अगर वैयक्तिक रूपान्तर सम्भव न हुआ, यानी सभी व्यक्तियों का रूपान्तर न भी हो, फिर भी, समस्त मानवजाति का उत्थान तो होगा ही, सभी वस्तुएं सामञ्जस्य के तागे से पिर जायेंगी, जिससे एक नयी व्यवस्था, नया समन्वय सुप्रतिष्ठित हो जायेगा और अव्यवस्था के विक्षोभ तथा वर्तमान संघर्ष के स्थान पर ऐसी व्यवस्था आ जायेगी जो समस्त जगत् में सामञ्जस्यपूर्ण क्रिया को सम्भव बनायेगी।

## व्यक्ति को ऊपर उठना होगा

धरती पर अतिमानसिक अवतरण के दूसरे परिणाम भी होंगे: वह जीवन में मन द्वारा लायी गयी सभी विकृतियों तथा कुरूपताओं को जड़ से उखाड़ देगा; उन विकृतियों की एक पूरी शृंखला ने दुःख-दर्द, सन्ताप, नैतिक निर्धनता, उदासी, घृणा तथा शोक का ऐसा अम्बार खड़ा कर दिया है कि सम्पूर्ण मानव जीवन आज बीभत्स हो उठा है। इस बीभत्सता को विलीन होना होगा। यही चीज बहुत से मायनों में मानवता को पशु-जीवन से असंख्यगुना नीचे उतार लाती है। पशुओं में एक सहज स्वाभाविकता होती है और वही उनमें सामञ्जस्य ले आती है। पशुओं में दुःख-दर्द और सन्ताप इतने दयनीय नहीं होते जितने मनुष्यों में होते हैं, क्योंकि मनुष्यों का बहुत बड़ा हिस्सा ऐसी मानसिकता से विकृत हो जाता है जो ऐकान्तिक रूप से अपनी स्वार्थपरक आवश्यकताओं की ओर मुड़ी हुई होती है।

व्यक्ति को या तो प्रकाश तथा सामञ्जस्य में उभर आना होगा, या फिर पशु-जीवन की अविकृत सीधी-सादी सरलता में दोबारा धंस जाना होगा।

लेकिन जिन्हें ऊपर नहीं उठाया जा सकता, जो प्रगति करने से इन्कार करते हैं वे स्वतः ही मानसिक चेतना का उपयोग करने की क्षमता खो बैठेंगे और दोबारा मानव के नीचे के स्तर पर जा गिरेंगे।...

*एक शिष्य के साथ श्रीमां के वार्तालाप से* जून १९५८

*जीवन में सबसे महत्त्वपूर्ण क्षण कौन-सा है?*
*वर्तमान क्षण।*
*क्योंकि भूत का अब कोई अस्तित्व नहीं रहा,*
*और भविष्य का अभी तक अस्तित्व नहीं है।*

*—श्रीमां*

**वर्तमान सृष्टि का गुण सन्तुलन है**

*मां, कहा जाता है कि असुरों में भी भगवान् का अंश होता है।*

स्वभावतः !

*अगर ऐसा है तो जब भगवान् असुर से लड़ते हैं तो असुर में विद्यमान भगवान् क्या करते हैं?*

वे फिर से भगवान् में समा जाते हैं। लेकिन तुम्हें यह कहानी मालूम है? जैसा रामायण में है, भगवान् उसे फिर से अपने में समो लेते हैं। इस अर्थ में यह कहानी बिलकुल सच्ची है।...

*तो फिर रूपान्तर तब तक नहीं हो सकता जब तक कि भगवान् अपने-आपको भगवान् के अन्दर खींच न लें?*

वह, अरे, वही तो प्रलय है ! वह रूपान्तर नहीं, पृथ्वी का विघटन है। कहा जाता है कि छः सृष्टियां थीं, यानी, विश्व के छः मूर्त रूप थे और छः बार विश्व वापिस जा चुका है—जानते हो, शास्त्रों में बताया गया है कि—वह भगवान् में वापिस समा चुका है। लेकिन कहते हैं कि यही अन्त है। यह स्पष्ट है कि यह एक अन्त तो है, लेकिन यह निष्पत्ति नहीं है। चूंकि सृष्टि में किसी चीज का अभाव था इसलिए उसे वापिस खींच लेना और दोबारा बनाना जरूरी था। और कहा यह जाता है कि हमारी वर्तमान सृष्टि सातवीं है, और सातवीं होने के नाते यही वास्तविक है, यानी, अन्तिम है, और इसे फिर से खींच नहीं लिया जायेगा। यह अधिकाधिक पूर्ण होती जायेगी, इसका रूपान्तर होता रहेगा, ताकि इसे खींच लेने की आवश्यकता न पड़े।...

वर्तमान सृष्टि का गुण **सन्तुलन** है; इसलिए कहा जाता है कि इस सृष्टि में, अगर प्रत्येक वस्तु ठीक अपने स्थान पर हो, पूर्ण सन्तुलन में हो तो बस, कहीं कोई अशुभ न रहेगा। अशुभ क्या है? वह है चीजों का सन्तुलन में न होना ! ऐसी कोई चीज नहीं जो अपने-आपमें बुरी हो, केवल उसकी अवस्थिति गलत है, वह सच्ची अवस्थिति में नहीं है।

फिर से भगवान् में समा जाना। चार प्रधान असुर थे। उन चार में से दो तो परिवर्तित हो चुके हैं। वे भागवत कार्य में भाग ले रहे हैं। लेकिन बाकी दो अब तक अच्छी तरह डटे हुए हैं। देखते हैं आखिर कब तक डटे रहेंगे। इसलिए उनके सामने चुनाव है : परिवर्तित होकर, यानी, अपनी सही जगह लेकर, पूर्ण समग्रता में सन्तुलित रहना अथवा विलीन हो जाना, यानी अपने 'मूल' में पुनः समा जाना।

उनमें से एक ऐसा है जिसने लगभग परिवर्तित होने की कोशिश तो की है लेकिन सफल नहीं हो पाया। जब उसे कोशिश करनी पड़ी तो यह उसे बहुत अप्रिय लगा। इसलिए उसने इसे किसी और समय के लिए स्थगित कर दिया।

दूसरा तो कोशिश करने से भी इन्कार करता है। जगत् में उसने अपने लिए एक बहुत, बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान सुरक्षित कर लिया है, क्योंकि अनभिज्ञ लोग उसे "राष्ट्रों का स्वामी" कहते हैं। वास्तव में अभी कुछ देर पहले मैं उन शक्तियों की बात कर रही थी जो पृथ्वी पर शासन करती हैं और अपने शासन को बिलकुल नहीं छोड़ना चाहतीं। वे उससे पूरी तरह सन्तुष्ट हैं—यह बात नहीं है कि वह यह न जानता हो कि एक दिन तो उसका अन्त आयेगा जरूर, परन्तु फिर भी वह यथासम्भव उसे स्थगित करता जाता है।

लेकिन चूंकि उसके परिमाण मानवीय नहीं होते, इसलिए यह काफी लम्बे अरसे तक इस तरह चला सकता है, है न? वे तब तक बने रहेंगे जब तक उन्हें धरा पर कहीं कोई ऐसी मानवीय चेतना मिलती रहेगी जो उनके प्रभाव का प्रत्युत्तर देने को तैयार हो। इससे तुम समस्या की कल्पना कर सकते हो! और फिर, वे व्यष्टि के द्वारा नहीं, बल्कि राष्ट्रों के द्वारा अपने प्रभाव को बनाये रखते हैं।...

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ६, पृ. १९४-९७

*अपनी कठिनाई में से बाहर निकलने का एकमात्र मार्ग है, अपनी चैत्य सत्ता को पाना और पूरी तरह से उसमें निवास करना। —श्रीमां*

**असुरों का मूल**

*आपने कहा था कि चार दिव्य शक्तियां थीं: 'प्रेम', 'प्रकाश', 'सत्य' और 'मृत्यु' का उलटा।*

और क्या?

(दूसरा बालक, हंसते हुए) 'जीवन'!

ओह!

*फिर ये चार शक्तियां भगवान् से अलग होकर मिथ्यात्व में परिवर्तित हो गयीं...*

हां, बात कुछ-कुछ ऐसी ही है! हां, कुछ इसी तरह की!

'प्रकाश' या 'चेतना', 'आनन्द' या 'प्रेम', 'जीवन' और 'सत्य'।

फिर 'प्रकाश' या 'चेतना' 'अन्धकार' और 'निश्चेतना' बन गये। 'प्रेम' और 'आनन्द' 'घृणा' और 'दुःख' बन गये; 'सत्य' 'मिथ्यात्व' बन गया और 'जीवन' 'मृत्यु'। हां, तो पहले दो... लेकिन ठीक उन्हीं स्थितियों में नहीं। पहला असुर परिवर्तित हो चुका है और काम कर रहा है, लेकिन उसने मानव शरीर धारण करने से साफ इन्कार कर दिया है। उसका कहना है कि उसका कार्य सीमित हो जाता है। हो सकता है कि किसी दिन वह शरीर धारण कर ले, लेकिन अभी तो वह इन्कार कर रहा है। दूसरा असुर परिवर्तित हो चुका है और अपनी ही इच्छा से विलीन हो गया है। अपने मूल में समा गया है। और बाकी दो अच्छी तरह डटे हुए हैं।

'मृत्यु' के असुर ने जन्म लेने की कोशिश की। लेकिन वह परिवर्तित न हो सका। उसने जन्म लेने का प्रयत्न किया। यह बहुत ही विरल है। लेकिन वह आंशिक देहधारण था, पूर्ण नहीं। पूर्ण देहधारण उनके लिए बहुत कठिन है। मानव शरीर बहुत छोटे होते हैं और मानव चेतनाएं बहुत ही छोटी।

रही बात दूसरे की, उसके तो अनेक निर्गत अंश हैं, जो किन्हीं मानव शरीरों में बहुत क्रियाशील हैं, और जिन्होंने धरा के आधुनिक इतिहास में बहुत बड़ी भूमिका निभायी है!

*क्या असुर आपस में झगड़ते नहीं?*

हां, जरूर ! हां, जरूर ! ठीक उन मनुष्यों की तरह जो आसुरिक प्रभावों तले होते हैं। वे परस्पर सबसे भयानक शत्रु होते हैं। हमें कहना चाहिये कि यह एक वरदान है, क्योंकि अगर उनमें समझ होती तो चीजें कहीं अधिक कठिन हो जातीं। शायद यह इसलिए है क्योंकि जगत् में सन्तुलन के विधान का शासन है। यह उनके प्रभाव की शक्ति को घटाने के लिए होता है। फिर भी...

'मिथ्यात्व के स्वामी' का सचमुच बहुत ही ज्यादा प्रभाव है। यही है जो छूत की बीमारी की तरह तुम्हें वश में कर लेता है। उससे भी ज्यादा सशक्त !

*मधुर मां, क्या 'मिथ्यात्व' ने देह धारण करने की कोशिश नहीं की?*

उसने निर्गत अंशों को तो धरा पर भेजा था, लेकिन मुझे नहीं लगता कि यह परिवर्तित होने के उद्देश्य से था। बहरहाल, वह सफल तो नहीं हुआ।

*लेकिन विरोधी शक्तियों के लिए मनुष्य आकर्षण का केन्द्र क्यों है? वह तो इतना सीमित है!*

हां। लेकिन साधारणतः वे एक ही व्यक्ति पर क्रिया नहीं करतीं, बल्कि भौतिक वातावरण को वश में करने की कोशिश करती हैं, तुम समझे, और मनुष्यों को वश में किये बिना भौतिक वातावरण पर काबू पाना सम्भव नहीं, क्योंकि मनुष्य में ही उच्चतम भौतिक शक्ति अभिव्यक्त होती है। जहां तक परिवर्तन के लिए मानव-शरीर धारण करने की बात है, वह अवश्य ही काफी... उसका उत्तर काफी सरल है। क्योंकि मनुष्य में चैत्य सत्ता है, और ऐसा कोई असुर नहीं जो शाश्वत काल तक इस चैत्य सत्ता के प्रभाव का प्रतिरोध कर सके, चाहे वह समर्पण करने से भरसक इन्कार क्यों न करे और अपने-आपको और जोर से क्यों न बांध ले। वह ठीक उनके अस्तित्व का विरोध है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ६, पृ. १९७-९९

## राजनीतिक मनोवृत्ति के परे जाना

*माताजी, आज के जगत् में राजनीति दो बड़े दलों में बंटी हुई है, एक अमरीका का दल और दूसरा रूस का। इन दोनों में पुनर्मैत्री कैसे होगी?*

ओह! यह बहुत आसान है। चूंकि वे यह बात बिलकुल नहीं समझ पाते कि यह बहुत आसान है, इसीलिए मैं कहती हूं कि यह चीज अन्त में होगी। ये चीजें केवल बाहरी रूप और ऊपरी धारणाएं और स्वार्थ हैं—स्वार्थ! सच्चे स्वार्थ भी नहीं: निजी स्वार्थ के बारे में उनकी धारणाएं हैं। लेकिन अगर सच्चा समाधान मिल जाये... अगर वह मिल जाये, नहीं—शायद वह मिल चुका है—अगर सच्चे आर्थिक समाधान का उपयोग किया जाये, तो उनकी समस्याओं की नींव ही ढह जायेगी, बच रहेगी केवल राजनीतिक मनोवृत्ति जो बहुत, बहुत सतही है। वह बहुत छिछली है, उसमें कोई गहराई नहीं, सबसे बढ़ कर, वे केवल शब्द हैं, बहुत ही खोखले शब्द; उसकी आवाज बहुत जोर की होती है, क्योंकि वह खोखली है, वे बड़े-बड़े शब्द हैं। लेकिन, देखो, उनकी वृत्ति को काफी हद तक सच्चा सहारा उन दो चीजों से मिलता है जिनके बारे में मैंने अभी कहा: वित्तीय सहारा और आर्थिक सहारा। हां तो, अगर आर्थिक समस्याएं हल हो जायें, यानी, अगर समाधान का प्रयोग किया जाये, तो इन राजनीतिक भेदों के एक बड़े भाग का पाया सरक जायेगा। यह लगभग ऐकान्तिक रूप से जीवन की समस्याओं और उन समस्याओं के समाधान को उलटे ढंग से देखने पर आधारित है: ये लोग सोचते हैं कि वह इस तरह है, दूसरे सोचते हैं कि वह उस तरह है। मैं सबसे अधिक सच्चे लोगों की बात कर रही हूं, जैसा कि मैंने कहा, उन लोगों की नहीं जिन्होंने ठीक शून्य में से चीजें बना ली हैं, ताकि बहुत-सा शोर मचा लें और बहुत-सा प्रभाव डाल दें। लेकिन अगर हम प्रश्न के मर्म तक जायें, तो वहां इतना भेद नहीं है। ऐसे बहुत-से लोग हैं—मैं लोगों की बात कर रही हूं, व्यक्तियों की नहीं, बल्कि सरकारों की—जो यह दिखावा करते हैं कि वे कम्यूनिस्ट नहीं हैं पर उनके काम का तरीका एकदम कम्यूनिस्टों जैसा, उनसे भी ज्यादा कठोर होता है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ७, पृ. ३३३-३४

*मधुर मां, आपने कहा है : "अतिमानस पृथ्वी पर उतर आया है।" इसका ठीक-ठीक तात्पर्य क्या है? आपने यह भी कहा है : "जिन चीजों की प्रतिज्ञा की गयी थी वे संसिद्ध हो गयी हैं।" वे कौन-सी चीजें हैं?*[१]

आह! यह बात, यह तो निस्सन्देह अज्ञान है! बहुत दीर्घकाल से इसके लिए वचन दिया गया है, बहुत समय पहले से यह बात कही गयी है—केवल यहां नहीं—बल्कि जगत् के प्रारम्भ से। इस विषय में सभी प्रकार की भविष्यवाणियां, सभी प्रकार के पैगम्बरों द्वारा की गयी हैं; यह कहा गया है : "एक नया स्वर्ग और एक नयी पृथ्वी उत्पन्न होगी, एक नयी जाति पैदा होगी, यह संसार रूपान्तरित होगा...।" सभी परम्पराओं में पैगम्बरों ने इस बात की चर्चा की है।

*आपने कहा है : "वे संसिद्ध हो गयी हैं।"*

हां। तो फिर?

*नवीन जाति कहां है?*

नवीन जाति? कुछ समय, जैसे... कुछ हजार वर्षों तक प्रतीक्षा करो और

[१] श्रीमां ने २९ फरवरी की 'अतिमानसिक अभिव्यक्ति' की घोषणा दो सन्देशों में की थी जो अप्रैल, १९५६ की 'शिक्षा-केन्द्र' पत्रिका (बुलेटिन) में प्रकाशित हुए थे :

"हे प्रभु, तूने इच्छा की है, और मैं कार्यान्वित करती हूं,
एक नयी ज्योति पृथ्वी पर प्रकट हो रही है,
एक नया जगत् उत्पन्न हो गया है।
जिन वस्तुओं की प्रतिज्ञा की गयी थी वे संसिद्ध हो गयी हैं।"

"पृथ्वी पर 'अतिमानस' की अभिव्यक्ति का होना अब मात्र एक प्रतिज्ञा नहीं है, बल्कि एक जीवन्त तथ्य, एक सत्य वस्तु है।

"यह (अतिमानस) यहां कार्य कर रहा है, और एक दिन आयेगा जब अति अन्ध, अत्यन्त अचेतन, यहां तक कि सर्वाधिक अनिच्छुक लोग भी इसे पहचानने के लिए बाध्य होंगे।"

तुम उसे देखोगे!

जब मन धरती पर अवतरित हुआ, जिस क्षण मन पार्थिव वातावरण में अभिव्यक्त हुआ और जिस क्षण पहला मनुष्य प्रकट हुआ, दोनों के बीच लगभग लाखों वर्ष गुजर गये। अब यह कार्य अधिक तेजी से होगा, क्योंकि अब मनुष्य इसकी आशा करता है, उसका इस विषय में एक अस्पष्ट-सा विचार है; वह कुछ अर्थ में अतिमानव के आविर्भाव की प्रत्याशा करता है। जब कि, निश्चय ही, बन्दरों ने मनुष्य के जन्म की आशा नहीं की थी, उन्होंने कभी उसकी बात नहीं सोची थी—इस समुचित कारण से कि सम्भवतः वे बहुत नहीं सोचते। परन्तु मनुष्य ने इस विषय में सोचा है और वह उसकी प्रतीक्षा कर रहा है, अतएव कार्य तीव्र गति से चलेगा। परन्तु फिर भी तीव्र गति का अर्थ है हजारों वर्ष, शायद। हम इस विषय में कुछ हजार वर्ष बाद फिर से बात करेंगे!

(मौन)

जो लोग आन्तरिक रूप में तैयार हैं, जो खुले हुए हैं और उच्चतर शक्तियों के सम्पर्क में हैं, जिन लोगों को थोड़ा-बहुत अतिमानसिक 'ज्योति' और 'चेतना' का सीधा व्यक्तिगत सम्पर्क प्राप्त हो चुका है, वे पार्थिव वातावरण में उत्पन्न अन्तर को अनुभव करने में सक्षम हैं।

परन्तु उसके लिए... केवल सजातीय ही सजातीय को पहचान सकता है, व्यक्ति के अन्दर विद्यमान अतिमानसिक 'चेतना' ही पार्थिव वातावरण में क्रियाशील 'अतिमानस' के विषय में अवगत हो सकती है। जिन लोगों ने, किसी-न-किसी कारणवश, इस दर्शन-शक्ति को विकसित कर लिया है वे इसे देख सकते हैं। परन्तु जो लोग आन्तरिक सत्ता के विषय में भी सचेतन नहीं हैं—जो थोड़ी-सी अन्दर है—और जो अपनी अन्तरात्मा के विषय में कुछ भी कहने में एकदम किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाते हैं, ऐसे लोग निश्चय ही पार्थिव वातावरण में उत्पन्न भेद को समझ सकने के लिए तैयार नहीं हैं। उन्हें इसके लिए अभी बहुत लम्बा रास्ता तय करना होगा। कारण, जिन लोगों की चेतना कम या अधिक ऐकान्तिक रूप से बाह्य सत्ता पर—मानसिक, प्राणिक और भौतिक सत्ता पर—केन्द्रित होती है, उनके लिए वस्तुओं को एक ऊटपटांग और अप्रत्याशित रूप ग्रहण करने की आवश्यकता होती है

और तभी वे उन्हें स्वीकार कर पाते हैं। तब वे उन्हें चमत्कार कहते हैं।

परन्तु जब शक्तियों के हस्तक्षेप का यह चमत्कार निरन्तर होता रहता है जो परिस्थितियों तथा अवस्थाओं को बदल देता है और जिसका परिणाम बहुत व्यापक होता है, इसे वे चमत्कार नहीं कहते, क्योंकि सिर्फ बाहरी रूप मात्र ही दिखायी देता है और यह बिलकुल स्वाभाविक प्रतीत होता है। परन्तु, सच पूछा जाये तो, छोटी-से-छोटी वस्तु जो होती है उस पर यदि तुम विचार करो तो तुम यह स्वीकार करने के लिए बाध्य होओगे कि यह चमत्कारपूर्ण है।

चूंकि तुम उस पर विचार नहीं करते केवल इसीलिए तुम चीजों को उस रूप में लेते हो जैसी कि वे हैं, जिस लिए कि वे हैं, बिना किसी शंका-सन्देह के; अन्यथा प्रतिदिन तुम्हें अपने-आपसे यह कहने के अनगिनत अवसर प्राप्त होते कि: "सचमुच, यह तो बिलकुल आश्चर्यजनक है! यह कैसे हुआ?"

बिलकुल सीधे तौर पर कहें तो, यह बस ऊपरी तौर पर देखने की एक आदत है।

*मधुर मां, इस नयी 'चेतना' के प्रति हमारा कैसा मनोभाव होना चाहिये?*

यह इस बात पर निर्भर करता है कि तुम उसके द्वारा क्या करना चाहते हो।

यदि तुम एक अनोखी वस्तु के रूप में उसकी ओर ताकना चाहो तो तुम्हें बस उसे देखते रहना होगा, समझने का प्रयत्न करना होगा।

यदि तुम चाहो कि वह तुम्हें बदल दे तो तुम्हें अपने-आपको खोलना होगा और प्रगति करने का प्रयास करना होगा।...

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८, पृ. १५२-५४

**अब मनुष्य सहयोग दे सकता है।** *यानी, वह नयी चेतना की इस प्रक्रिया में, शुभेच्छा के द्वारा, अभीप्सा के द्वारा हाथ बंटा सकता है, और यथाशक्ति अधिक-से-अधिक सहायता कर सकता है। —श्रीमां*

# महाविध्वंस—छिन्नमस्ता

युग-युगान्तरों में जब भी पृथ्वी पर नयी सृष्टि का, या पृथ्वी के वातावरण में नयी चेतना का आविर्भाव हुआ, हमेशा ही उसमें पुरातन के विलय और विनाश की अवस्था की पूर्ववर्तिता रही। शिव के नाट्य के दो स्वरूप हैं —सृष्टि का आनन्द और साथ ही विनाश का उल्लास—लास्य और ताण्डव —दोनों ही आज तक समान रूप से आवश्यक रहे हैं—एक दूसरे के पूरक।

विनाश का अर्थ है अनावश्यक, अनुपयुक्त, उस सबका विनाश जो नये आगमन को स्वीकार करने से इन्कार करता है, उसमें बाधा डालता है, उसके निषेध का प्रयत्न करता है—उस सबका जो अवश्यम्भावी नये भविष्य के साथ सामञ्जस्य में नहीं है। पृथ्वी का विकास प्रगति-क्रम का अभियान है—अगर तुम उसकी गति के साथ-साथ चलने में असफल होते हो तो तुम्हें रास्ते से हटना होगा, बल्कि तुम्हें इसलिए हटा दिया जायेगा ताकि दूसरे आ रहे कदमों के लिए जगह बनायी जा सके।

अगर तुम उस पुरातन सृष्टि में हो या कम-से-कम उससे प्रेम करते हो, उससे जुड़े हुए हो, तो ध्वंस पीड़ादायक हो जाता है, यहां तक कि तुम्हारे लिए वह भयजन्य और ग्लानिजन्य हो जाता है। पर अगर तुम्हारे अन्दर नवीन के लिए अभीप्सा है, पहले ही तुमसे सम्बन्धित उस उदीयमान भविष्य में भाग लेने की आकांक्षा है, तो तुम इस ध्वंस की आवश्यकता को अनुभव करते हो और काम की अविलम्ब पूर्ति के लिए इसका स्वागत करते हो, और यहां तक कि इसमें हर्षित होते हो। तुम ध्वंस के उल्लास का आनन्द लेते हो—कम-से-कम शिव तो लेते हैं, दिव्य शक्ति तो लेती है, ऐसा लगता है।

कुछ वैसा ही, वास्तव में यही इस समय घटित हो रहा है। महाकाली ने तैयारी का, बहिष्करण का—विनाश और विलय का—अपना कार्य प्रारम्भ कर दिया है ताकि महालक्ष्मी और महासरस्वती का मार्ग प्रशस्त हो सके। माहेश्वरी के अपार प्रेम और करुणा ने इस कार्य को स्वीकृति दी है, इसे समर्थन दिया है। वह नयी सृष्टि, वह नया जगत्, जिसका निर्माण श्रीमां ने किया और जिसे वे इतने अधिक प्रेम और सावधानी से अब भी बना रही हैं, तैयार है—प्रकट होने के लिए, भौतिक क्षेत्र में अपने उद्घाटन के लिए तैयार है। वह इस पृथ्वी पर मूर्त रूप लेने की प्रतीक्षा में है, लेकिन पृथ्वी

अभी तैयार नहीं है, बल्कि मनुष्य अभी तैयार नहीं है, वह अब भी इससे इन्कार करता है, अब भी अपने पुरातन मृत जगत् को पकड़े हुए है—और बहुत कस कर पकड़े हुए है—वह मिथ्यात्व और धूर्तता के इस खेल से प्रेम करता है। शायद सत्य उसकी अहंकारपूर्ण प्रकृति और दुर्बोध बनावट के लिए इतना द्युतिमान्, इतना अप्रतिरोध्य है—इसलिए वह इन्कार करता है, उस नयी चेतना, नयी वास्तविकता में जितना अधिक हो सकता है बाधा पहुंचाता है। श्रीमां ने अपने असीम प्रेम के कारण इस इन्कार को अपने ऊपर लेने का प्रयत्न किया, अधिक-से-अधिक तत्त्वों को बदलने की, उनमें विश्वास पैदा करने की कोशिश की—फिर, जब इससे अधिक नहीं किया जा सका तो उन्होंने स्वयं को समेट लिया और कार्यक्षेत्र को अपने दूसरे रूप के लिए छोड़ दिया ताकि वह इस अपरिहार्य कार्य को कर सके—पुराने कठोर जगत् को तोड़ने के कार्य को। यह एक आवश्यकता है पृथ्वी के और मनुष्य के भी अन्तिम श्रेयस् के लिए।

कार्य आरम्भ हो चुका है—इसे शिव का नर्तन, ताण्डव कहो या प्रचण्ड माता काली का नर्तन—यह आरम्भ हो चुका है और तीव्र और तीव्रतर गति से अपने मार्ग पर बढ़ रहा है। विनाश, विलय, विघटन—हां, यह प्रथम परिणाम है और हम अब इसे प्रत्यक्ष देख रहे हैं और इसमें भाग ले रहे हैं, चाहे हम इसे पसन्द करें अथवा नहीं। यह परम प्रभु का निश्चय है—इसे घटना ही है। वे जो सत्य से जुड़े हुए हैं बचे रहेंगे, वे जो मिथ्या के साथ मैत्री करेंगे नष्ट हो जायेंगे—मनुष्य के पास चुनने के अलावा और कोई रास्ता नहीं है, सचेतन रूप से या अचेतन रूप से।

यह एक अपरिहार्य स्थिति है, जो सत्य के अभीप्सु हैं, उन्हें दुःख या शोक करने की कोई आवश्यकता नहीं।

अगली अवस्था स्वभावतः मलबा साफ करने की होगी—एक पूरी सफाई—उस सबका बहिष्करण या विलोपन जो सत्य के विरुद्ध था, मृत जगत् का ध्वंसावशेष, वह क्षेत्र—वहां से वह सब कुछ साफ किया जायेगा जो गन्दा और मलिन है। क्योंकि केवल तभी नयी वास्तविकता आगे आने में समर्थ होगी, श्रीमां का कार्य पूरा होगा।

नयी सृष्टि पहले ही विद्यमान है—अपना रूप ले रही है—इस समय जो कुछ भी आश्रम में और बाहर घट रहा है, वह इसीलिए घट रहा है ताकि

नयी सृष्टि जल्दी-से-जल्दी सम्मुख आ जाये। वे बाहरी ढांचे को तोड़ रही हैं जिसके अन्दर नयी वास्तविकता स्थापित हो चुकी है, या तुम इसे एक मुर्दा खोल कह सकते हो जिसे तोड़ा जा रहा है ताकि नयी वास्तविकता बाहर आ सके। यह श्रीमां का अपने ही 'आत्म' के साथ कार्यव्यापार है। उन्होंने अपना 'छिन्नमस्ता' रूप धारण किया है। जो कुछ भी वे नष्ट कर रही हैं वे उनके अपने ही अंश हैं—वे मानों, अपने ही शरीर के पुराने अनुपयोगी अंगों से पीछा छुड़ा रही हैं। हम श्रीअरविन्द की इन पंक्तियों को स्मरण रख सकते हैं :

"... मुहूर्त कई बार बड़ा भयावह होता है, एक अग्नि और एक चक्रवात और एक तूफान, ईश्वर के कोप के कोल्हू का चलना; पर जो इस घड़ी में अपने प्रयोजन के सत्य पर खड़ा रह सकता है, वह है जो खड़ा रहेगा; अगर वह गिर भी जायेगा, तो पुनः उठ खड़ा होगा; अगर वह हवा के पंखों पर गायब होता लगेगा, तो भी वह लौट आयेगा। दुनियावी बुद्धिमत्ता को अपने कानों के बहुत पास आकर फुसफुसाने मत दो; क्योंकि यह 'अप्रत्याशित' का मुहूर्त है।" ('भागवत मुहूर्त')

—नलिनीकान्त गुप्त

---

**अग्निशिखा**

श्रीअरविन्द सोसायटी की मासिक पत्रिका

वार्षिक शुल्क—१८०रु., US $ २५ (हवाई-डाक से)

स्वामित्व : श्रीअरविन्द सोसायटी

मुद्रक : स्वाधीन चैटर्जी, श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस

प्रकाशक : प्रदीप नारंग, श्रीअरविन्द सोसायटी

प्रकाशन-स्थल : सोसायटी हाउस, ११ सैं मार्तैं स्ट्रीट, पुदुच्चेरी-६०५००१

मुद्रण-स्थल : श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, नं. ३८, गूबैर ऐवेन्यू, पुदुच्चेरी-६०५००१

सम्पादक : वन्दना

दूरभाष : (०४१३) २३३६३९६-९७-९८

Registered with the Registrar of Newspapers for India: 18135/70

Email:info@aurosociety.org Website: www.aurosociety.org

**'पुरोधा' :**

# दैनन्दिनी

**दिसम्बर**

१. मेरे हृदय में उसकी मुस्कान ही मेरा सारा बल है।

२. भगवान् के लिए की गयी कोई भी अभीप्सा अन्त में निराश नहीं करती।

३. मनुष्य अपने मन में जितनी निश्चल-नीरव और पूर्ण शान्ति स्थापित कर सकेगा उतनी ही अधिक अन्तःप्रेरणाएं प्राप्त करने में वह समर्थ हो सकेगा।

४. यह विश्व एक उच्चतर और महत्तर 'सत्य' की ओर आगे बढ़ रहा है, सर्वदा आगे बढ़ रहा है।

५. संसार में सच्चा मनोभाव ग्रहण करने का उत्तम उपाय है, बस अपने-आपसे यह कहना "मेरे इर्द-गिर्द जो भी हैं, मेरे जीवन की सारी परिस्थितियां, मेरे समीप जो हैं वे सभी वह आईना हैं जिसे दिव्य चेतना ने मेरे सम्मुख, मुझे यह दिखाने के लिए रखा है कि मुझे कौन-कौन-सी प्रगति करनी चाहिये। जो कुछ मुझे दूसरों के अन्दर खटकता है वह यही कार्य है जिसे मुझे स्वयं अपने अन्दर करना है।"

६. सच्चा मनोभाव है विनम्रता का भाव, मनुष्य जो कुछ नहीं जानता उसके सामने नीरव आदर का भाव और अपने अज्ञान से बाहर निकल आने के लिए एक आन्तरिक अभीप्सा का भाव।

७. जैसे तुम अपने अन्दर भगवान् के साथ एक आनन्दपूर्ण सम्बन्ध का स्वर्ग स्थापित कर लेते हो, उसी प्रकार यदि तुम अपनी प्रकृति में आसुरिक प्रवृत्तियों को वश में करने की सावधानी न बरतो तो अपनी चेतना में दुःख और विध्वंस का नरक लिये फिरोगे।

८. जीवन का एकमात्र सत्य है भगवान् की ओर मुड़ जाना।

९. एकता किसी बाहरी व्यवस्था से नहीं आती बल्कि नित्य ऐक्य के बारे में सचेतन होने से आती है।

१०. जो भी प्रेरणा अपने साथ शान्ति, श्रद्धा, आनन्द, सामञ्जस्य, विस्तार, एकता और ऊपर उठती हुई वृद्धि का भाव लाती है या इन चीजों

को पैदा करती है वह सत्य से आती है, और जो अपने साथ बेचैनी, सन्देह, अविश्वास, दुःख, अनबन, स्वार्थभरी संकीर्णता, जड़ता, अनुत्साह और निराशा लाती है वह सीधी मिथ्यात्व से आती है।

११. जब हमारे कार्यों का स्रोत भगवान् पर श्रद्धा हो तो सफलता अनिवार्य होती है।

१२. निम्नतर को अपने भाग्य पर छोड़ देना नहीं बल्कि जिस उच्चता को हम प्राप्त कर चुके हैं उसके प्रकाश में उसे रूपान्तरित करना प्रकृति का सच्चा दिव्यत्व है।

१३. मनुष्य जीवित प्राणियों में सबसे महान् है क्योंकि वह सबसे अधिक असन्तुष्ट है, क्योंकि वह सीमाओं का दबाव सबसे अधिक अनुभव करता है। शायद एक वही है जिसे किसी सुदूर आदर्श के लिए दिव्य पागलपन पकड़ सके।

१४. जब कुछ हजार रुपये बरबाद हो जाते हैं तो तुम्हें धक्का लगता है, पर तब नहीं जब... 'चेतना' और 'शक्ति' की अजस्र धाराएं अपने सच्चे उद्देश्य से विमुख कर दी जाती हैं!

१५. यह कौन समझता है कि प्रगति करना, वस्तुओं को और अधिक अच्छी तरह समझने और जीवन को अच्छी तरह जीने के लिए अपने-आपको तैयार करना व्यक्ति का पवित्र कर्तव्य है।

१६. "योग का अर्थ है, भगवान् के साथ एकत्व और एकत्व साधित होता है, आत्मार्पण के द्वारा—यह भगवान् के प्रति तुम्हारे आत्म-निवेदन पर स्थापित होता है।"

१७. प्रकृति में सब कुछ गतिशील हैं; अतः जो आगे नहीं बढ़ता वह अनिवार्य रूप से पिछड़ जाता है।

१८. आराधना करो और जिसकी आराधना करो वही बनने की कोशिश करो।

१९. तू मनुष्य है, मनुष्य का पूरा स्वभाव है मनुष्य से ऊपर उठना।

२०. भगवान् की सत्ता में निवास कर, उनके प्रकाश से चमक, उनकी शक्ति से कार्य कर और उनके आनन्द के साथ आनन्द मना।

२१. "मेरे प्यारे, दुःखी, अज्ञानभरे, विद्रोही और उग्र स्वभाववाले बालको! अपने हृदयों को खोलो, अपने-आपको शान्त करो, भागवत प्रेम की

सर्वशक्तिमत्ता तुम्हारे पास आ रही है।"

२२. आर्य—अच्छा और उदात्त मनुष्य, योद्धा जो अपने अन्दर और बाहर प्रगति का विरोध करने वाली सभी चीजों के विरुद्ध लड़ता और उन पर विजय पाता है। वह ज्योति का योद्धा और सत्य के मार्ग का पथिक होता है।

२३. पूर्णयोग में साधना और बाहरी जीवन में कोई फर्क नहीं है। दैनिक जीवन के प्रत्येक क्षण, सत्य को खोजना और उस पर आचरण करना चाहिये।

२४. जो लोग मिथ्या विचार करते हैं, वे मिथ्यात्व और दुर्गति में ही रहेंगे। मिथ्या चिन्तन से निकल जाओ और तुम दुःख-दर्द से बच जाओगे।

२५. हमें एकमात्र भागवत कृपा पर ही निर्भर रहना और सभी परिस्थितियों में उसकी सहायता के लिए पुकारना सीखना होगा, तब वह लगातार चमत्कार करके दिखलायेगी।

२६. भक्ति के साथ कार्य करने, क्रिया करने के साथ-साथ एक आन्तरिक उत्सर्ग भी आध्यात्मिक अनुशासन होता है। अन्तिम लक्ष्य है, भगवान् के साथ न केवल ध्यान में बल्कि सभी परिस्थितियों में और समस्त गतिशील जीवन में सायुज्य पाना।

२७. स्थायी और सच्चा सुख पाने का एकमात्र उपाय है 'भागवत कृपा' पर पूर्ण और ऐकान्तिक निर्भरता।

२८. भागवत कृपा से बढ़ कर कोई संरक्षण नहीं है।

२९. अधिक-से-अधिक विस्तृत बनो,
अधिक-से-अधिक गहराई में जाओ।
अधिक-से-अधिक पूर्णता के साथ समर्पण करो।

३०. हर चीज को अपने अन्दर अज्ञान और अक्षमता को निकाल बाहर करने का अवसर बनाना चाहिये।

३१. अगर तुम कठिनाइयों के बीच अपने स्वभाव पर प्रभुत्व पा सको, भागवत कृपा जैसा भी परिवेश दे उसमें तुम आन्तरिक रूप से शाश्वत उपस्थिति के साथ अकेले रहने का प्रयास करो तो तुम्हें जो सिद्धि प्राप्त होगी वह अधिक सच्ची, अधिक गहरी और अधिक स्थिर होगी।

# शाश्वत कौन, अक्षर कौन?

खण्ड-खण्ड में जो नश्वर, जो क्षणिक, विजड़ है!
वही अखण्ड रूप में शाश्वत है, अक्षर है।
जैसे एक लहर सरिता की उठ-मिट जाती।
पर, सरिता तो स्वयं निरन्तर बढ़ती जाती।
एक फूल या एक व्यक्ति झड़-मर जाता है।
पर, न फूलपन या कि व्यक्तिपन मिट पाता है।
मास और दिन, वर्ष-कल्प, यह आता-जाता।
पर, क्या महाकाल में इससे अन्तर आता?
अम्बर-पथ में आते-जाते रहते जलधर।
पर, ज्यों-का-त्यों निश्चल ही रहता नीलाम्बर।
पतझड़ में तरुवर के सब पत्ते झड़ जाते।
फिर वसन्त में वही नये पत्ते भर आते।
पर, इससे क्या तरु भी स्वयं बदल जाता है?
प्रकृति बदलती, पुरुष अचल ही रह जाता है।
यह जो जड़-सी और बदल-सी जाने वाली
लगती प्रकृति, विश्व-कौतुक दिखलाने वाली।
बाल-बोध के लिए कही जाती यह जड़ है।
किन्तु बोध के बाद वही लगती अक्षर है।
जड़-चेतन की ग्रन्थि पड़ी है मूढ़ हृदय में।
पर, ज्यों ही यह ग्रन्थि टूटती ज्ञानोदय में,
पृथक्-पृथक् क्या तब जड़-चेतन रह जाते हैं?
जड़ भी ज्ञान-ज्योति में चेतन बन जाते हैं।...
साक्षात्कार किया जिसने अपने ही मन में
उस अदृश्य सत्ता का, जो परिव्याप्त भुवन में।
परमात्मा को देखा निज आत्मा के द्वारा,
उस मनुष्य ने पाया जीवन का फल सारा।
इस जीवन का सर्वश्रेष्ठ कर्तव्य यही है,
वह अपूर्व सत्ता जो जग को नचा रही है;

जगत्-माल्य का गुप्त सूत्र वह ढूंढ़ निकाले।
नर-जीवन का परम लाभ वह प्रभु-पद पा ले।
जब तक वह प्रत्यक्ष न अनुभव में आवेगा,
तब तक क्या विश्राम तनिक भी मन पावेगा?
यदि सुख है, तो एकमात्र भूमा में सुख है।
जो अनन्त के सिवा जगत् में, दुःख ही दुःख है।...

और कृष्ण हैं कहां नहीं? सर्वत्र सुसमता।
वही एक आनन्द-सघन-रस केवल रमता।
जैसे तिल में तैल, दूध में घृत है रहता।
यह प्रवाह अविकल, अखण्ड प्रतिकण में बहता।
आत्मा को जग में, जग को अपनी आत्मा में,
जब देखोगे तुम दोनों को परमात्मा में,
तब यह भेद आप ही आवेगा अनुभव में।
गिर जावेगा छिन्न-मूल संशय-तरु भव में।
मिथ्या जगदाभास नष्ट तब हो जावेगा।
और कृष्ण ही कृष्ण जगत् में शेष बचेगा।
जब आत्मा के सिवा किसी का स्फुरण न आया,
तब समझो, कुछ हाथ लगा है, कुछ है पाया।
और कृष्णमय वहां चराचर हो जाता है।...

मंगलमय भगवान् यहां जो कुछ करते हैं,
सब मंगलमय, सभी रूप मंगल धरते हैं;
हम तो यन्त्रमात्र हैं केवल, वह यन्त्री है।
हम तो केवल राग-रागिनी, वह तन्त्री है।...

*"वही कला-सौन्दर्य, वही है सार्थक जीवन;*
*जो होता कृष्णार्थ और केवल कृष्णार्पण।"*

'नन्ददास' पुस्तक से —श्री आरसी प्रसाद सिंह

# एक कप्तान के साथ श्रीमां का पत्र-व्यवहार

(तारा जौहर कई वर्षों तक श्रीअरविन्दाश्रम के शारीरिक-शिक्षण विभाग में छोटे बच्चों (हरित दल) की कप्तान रहीं।)

*मधुर मां,*

*क्या सौभाग्य और दुर्भाग्य जैसी कोई चीज होती है या यह कोई ऐसी चीज है जिसे मनुष्य अपने लिए अपने-आप बना लेता है?*

सचमुच ऐसी कोई चीज नहीं है जिसे **भाग्य** कहा जा सके। मनुष्य जिसे भाग्य कहते हैं वह ऐसे **कारणों के परिणाम** होते हैं जिनके बारे में मनुष्य कुछ नहीं जानता।

और न ही कोई ऐसी चीज है जो अपने-आपमें सौभाग्य या दुर्भाग्य हो। हर एक परिस्थिति को हम अच्छा या बुरा इस दृष्टि से कहते हैं कि वह हमारे लिए कम या ज्यादा हितकर है और यह अनुमान बहुत उथला और अज्ञानभरा होता है, क्योंकि सचमुच हमारे लिए क्या हितकर है और क्या अहितकर यह जानने के लिए हमें महान् सन्त होना चाहिये।

और फिर, एक ही घटना एक व्यक्ति के लिए बहुत अच्छी और दूसरे के लिए बहुत खराब हो सकती है। ये अनुमान पूरी तरह से वैयक्तिक होते हैं और बाहर से आने वाले सम्पर्क के प्रति प्रत्येक की प्रतिक्रिया पर निर्भर होते हैं।

और अन्त में, हमारे जीवन की परिस्थितियां, हम जिस पास-पड़ोस में रहते हैं और लोग हमें जिस तरह देखते हैं, यह सब सचमुच अपने भीतर और बाहर हम जो कुछ हैं उसकी अभिव्यक्ति, उसका विषयगत प्रक्षेपण है। इसलिए हम विश्वास के साथ कह सकते हैं कि हम जिसे अपनी सत्ता की सभी स्थितियों में, मानसिक, प्राणिक और भौतिक में लिये रहते हैं वही, हमारे जीवन का निर्माण करता है और हमारे इर्द-गिर्द जो है उसमें इन्द्रियगोचर होता है।

और इसकी आसानी से जांच की जा सकती है, क्योंकि जिस अनुपात में हम अपने-आपको उन्नत करते और पूर्णता की ओर प्रगति करते हैं

वैसे-वैसे हमारी परिस्थितियां भी सुधरती जाती हैं।

इसी तरह उन लोगों के लिए जो भ्रष्ट या अधःपतित होते हैं, उनके जीवन की परिस्थितियां भी बिगड़ जाती हैं।

५ अक्तूबर १९५९

*मधुर मां,*

*आप जब सवेरे के समय छज्जे पर आती हैं तो हमें क्या देती हैं[१], और आप जो कुछ देती हैं उसे पाने के लिए हमें क्या करने की कोशिश करनी चाहिये?*

हर सुबह छज्जे पर, वहां जो लोग उपस्थित हों उनमें प्रत्येक के साथ एक सचेतन सम्पर्क साध कर मैं अपने-आपको परम प्रभु के साथ तदात्म कर देती हूं और उनके अन्दर पूरी तरह घुल-मिल जाती हूं। तब मेरा शरीर एकदम निश्चेष्ट होता है और एक ऐसी वाहिनी के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता जिसमें से प्रभु अपनी शक्तियां मुक्त रूप से भेजते हैं और अपनी सम्पूर्ण ज्योति, अपनी सम्पूर्ण चेतना, अपना सम्पूर्ण आनन्द हर एक पर उसकी ग्रहणशक्ति के अनुसार उंडेलते हैं।

प्रभु जो देते हैं उसे ग्रहण करने का सबसे अच्छा तरीका यह है कि छज्जे के दर्शन के समय विश्वास और अभीप्सा के साथ आओ और अपने-आपको **नीरव, निश्चल, प्रत्याशा की स्थिति** में जितना हो सके उतना **स्थिर और अचञ्चल** रखो। अगर तुम्हें कोई विशेष चीज मांगनी है तो ज्यादा अच्छा है कि जब मैं वहां रहूं तब नहीं, **उससे पहले** मांग लो क्योंकि कोई भी क्रिया ग्रहणशीलता को कम कर देती है।

१२ अक्तूबर १९५९

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १६, पृ. २६०-६२

[१] उन दिनों माताजी सवेरे कुछ क्षणों के लिए अपने छज्जे पर आकर खड़ी रहती थीं और वहां से नीचे सड़क पर खड़े हुए लोगों को देखा करती थीं। आश्रम की भाषा में इसे 'बालकनी-दर्शन' कहा जाता था।

# प्रभु का प्यारा

उत्तराखण्ड के बदरी-केदार की यात्रा का महत्त्व, हजारों वर्षों से हमारे देश के लोगों के मन और जुबान पर है। जनश्रुति है कि द्वापर में पाण्डवों ने केदारनाथ की यात्रा की थी और ईसा से डेढ़ सौ वर्ष पूर्व आद्य शंकराचार्य केरल से ढाई हजार मील चल कर बदरीनाथ आये थे। यह भी कहा जाता है कि वर्तमान 'पीठ' उन्हीं का स्थापित की हुई है।

अठारहवीं शताब्दी की बात है। पूना के श्रीमन्त पेशवा के दीवान वृद्धावस्था में राजकाज छोड़ कर घर ही पर विश्राम करते थे। उनके मन में बहुत वर्षों से बदरी-केदार यात्रा की कामना थी, किन्तु कोई-न-कोई कारण उपस्थित हो जाता और वे तीर्थयात्रा पर निकल नहीं पाते। आखिर, एक बार उन्होंने सब तैयारियां कर लीं। कौन-कौन से मुसाहिब, नौकर, रसोइये, सिपाहियों आदि को साथ रखा जाये और कैसी सवारियां, यान-वाहन आदि रहें, इस सबों की फेहरिस्त बन गयी। यहां तक कि रसद के सामान की भी, सावधानी से सूची बना डाली गयी।

उनके पड़ोस में हीरू नाम का एक दर्जी रहता था। उसके मन में भी बदरी-केदार जाने की इच्छा थी, किन्तु अच्छा साथ नहीं मिल पाया, इसलिए जा नहीं सका था।

उसने भी कई अन्य लोगों की तरह दीवानजी से चलने की स्वीकृति ले ली। उन दिनों रास्ते बीहड़ थे, सड़कें भी अच्छी न थीं। चोर-डाकुओं का डर बना रहता। इसके अलावा, सांप-बिच्छू और जंगली हिंसक पशुओं के आक्रमण का भय तो था ही। बीमारियां भी होती रहतीं। इन्हीं कारणों से लोग ऐसी बीहड़ यात्राओं में बड़े लोगों के किसी दल में शामिल होने का सुयोग ढूंढ़ते थे।

दीवानजी ने महीनों पहले से ही, अपने बेटों और पोतों को काम की सम्हाल देनी शुरू कर दी थी। कारिन्दों और पटवारियों को, कहां से कितनी अदायगी मिलनी है और उनके हलके की जमीन-जायदाद के पट्टे आदि के बारे में क्या और कैसे करना है, इसकी भी हिदायतें देकर आदेश दिया कि पीछे से किसी प्रकार का नुकसान न पहुंचे।

हीरू ने चलते समय पत्नी और पुत्र को केवल इतना कहा कि भगवान्

का स्मरण करते रहना; यदि उनकी कृपा रही तो फिर मिलेंगे।

निश्चित मुहूर्त पर यात्री-दल ने प्रस्थान किया। शंख बजाये गये, मन्दिरों के घण्टे बजे। विदा देने के लिए लोग उमड़ पड़े। लगभग एक कोस तक स्त्री-पुरुष और बच्चे भजन गाते हुए, पहुंचाने के लिए साथ चले। बड़ी श्रद्धा से सबने 'पालागन' किया।

तेरह सौ मील की लम्बी यात्रा थी। रोज पन्द्रह-बीस मील चलते। रात में किसी निरापद स्थान पर रुक जाते। भजन-कीर्तन होता रहता। इसी तरह चलते-चलते मालवा के किसी गांव के पास एक दिन इनका पड़ाव हुआ। जगह सुनसान-सी लगी। पूछ-ताछ करने पर पता चला कि गांव में हैजे का प्रकोप है, इसलिए अधिकतर लोग यहां से चले गये हैं। कुछ गरीब और हरिजन बच गये हैं। चिकित्सा के अभाव में, उनमें से भी कई-एक रोजाना भगवान् के यहां चले जाते हैं।

रात घनी हो आयी, भजन-कीर्तन समाप्त हो गये और यात्री सो गये। हीरू को नींद नहीं आयी। एक अजीब-सी बेचैनी उसे सता रही थी। वह चुपचाप उठा और पहरेदारों की नजर बचा कर गांव की ओर चल पड़ा। पास पहुंचते-पहुंचते हवा के झोकों के साथ सड़ान्ध आने लगी। वह तेजी से बढ़ा। एक घर से किसी छोटे बच्चे के रोने की आवाज सुनायी पड़ी। अन्दर जाकर देखा कि दो-तीन वर्ष का एक बालक पास में लेटी हुई अपनी मां का आंचल खींच-खींच कर रो रहा है। मां विसूचिकाजनित गन्दगी में लिपटी सिसक रही है। सारी बातें एक क्षण में उसके मस्तिष्क में घूम गयीं। दौड़ कर उसने आंगन में बंधी बकरी को दुहा और बच्चे को दूध पिलाया। फिर उसे एक ओर बैठा कर उस महिला को धो-पोंछ कर साफ किया। उसे ख्याल आया कि दवाइयों की पोटली तो उसकी पेटी में है, क्यों न वह ले आये, इसकी जान बच जायेगी।

फौरन वह उलटे पांव, पड़ाव की ओर भागा। लोग गहरी नींद में थे। 'पेटी खोलने पर खटका होगा', 'बिस्तर में धोती और कपड़े हैं, शायद जरूरत पड़ जाये'—सोचते हुए उसने चुपचाप बिस्तर और पेटी उठायी और गांव में लौट आया। वहां आकर देखा कि बच्चा आराम से सोया है और महिला को भी कुछ राहत है। उपचार के लिए साथ लायी हुई दवा दी। ईश्वर-कृपा से उसे लाभ हुआ। सुबह होने पर वह दूसरे घरों में गया। वहां

भी हैजे के रोगी कराह रहे थे। वह उन्हीं की सेवा में लग गया।

उधर तीर्थ-यात्रियों का पड़ाव उठने लगा। थोड़ी देर तक लोगों ने हीरू की प्रतीक्षा की, फिर आगे के लिए चल पड़े।

लगभग एक महीने तक हीरू उस गांव में रहा। यात्रा के लिए जो पूंजी लेकर चला था, समाप्त हो चुकी थी। महामारी के हट जाने पर लोग गांव में वापस आने लगे। सभी कृतज्ञ थे। उसका गुणगान करते थे परन्तु हीरू मौन रहता। उसके मन में रह-रह कर यही बात उठती कि तीर्थयात्रा न कर, शायद उससे कोई अपराध हो गया। एक दिन वह अपने घर के लिए रवाना हुआ। विदा के समय गांव के लोगों ने अपने घरों से गुड़-चना-चिड़वा दिया, गांव की सीमा तक पहुंचाने आये। उस सबकी आंखें गीली थीं। श्रद्धा और स्नेहभरी शुभाकांक्षा के अलावा, वे गरीब दे भी क्या सकते थे?

कुछ दिनों बाद, थका-हारा हीरू अपने घर वापस पहुंचा। लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ कि यात्रा पूरी न कर वह बीच में क्यों लौट आया? तरह-तरह के प्रश्न पूछे गये, 'क्यों आये? क्या बीमार हो गये? झगड़ा-तकरार हो गया?' आदि। वह चुपचाप गर्दन झुकाये रहता। पत्नी से केवल इतना कहा कि तीर्थ-यात्रा का पुण्य उसके भाग्य में बदा न था। पर-निन्दा और आलोचना में लोगों को आनन्द आता है। तरह-तरह की बातें उस गरीब के बारे में फैलायी गयीं, परन्तु हीरू ने कोई सफाई नहीं दी। सिर्फ इतना कह देता, "मेरे जैसी पापी की पहुंच, प्रभु के दरबार में कहां?"

दो महीने बाद, दीवानजी का दल पूना लौट आया। शहर के लोग, उनके स्वागत और चरण-रज के लिए आये। हीरू भी दुबका-सा आया और पैर छूकर, एक ओर बैठ गया। उन्होंने एक बार, उसकी ओर देखा मगर कुछ कहा नहीं।

यात्रा निर्विघ्न सम्पन्न हुई—इस उपलक्ष्य में, अगले दिन बारह गांवों के लोगों का, भगवान् के प्रसाद के लिए भोज हुआ। सभी दीवानजी का यशोगान और जय-जयकार कर रहे थे।

दस-बारह दिन बाद उनके यहां से हीरू का बुलावा आया। उसे लगा दीवानजी बुरा-भला जरूर कहेंगे। सहमा-सा वह उनकी कोठी पर पहुंचा और द्वारपाल को खबर दी। दीवानजी खुद ही निकल आये और उसे साथ

लेकर अपने निजी कक्ष में गये। एकान्त में उन्होंने हीरू से कहा—"जब से मैं आया, तुमसे एक बात पूछने की मन में थी, किन्तु काम-काज की देखभाल और लोगों की भीड़-भाड़ में मौका ही नहीं लग पाया। तुम्हें भगवान् की सौगन्ध है, झूठ मत बोलना। ऐसा लगता है कि उस दिन तुम हमलोगों को उस गांव के पड़ाव पर छोड़ कर अकेले ही आगे चले गये, मैंने देखा कि तुम भगवान् बदरी विशाल का ृंगार कर रहे हो और पास में बड़े पुजारीजी आरती कर रहे हैं। कई आवाजें देकर तुम्हें बुलाया भी, परन्तु भीड़ में तुम न जाने कहां समा गये। इसके बाद केदारजी की आरती और ृंगार में भी देखा कि तुम जगमोहन के कक्ष में हो। वहां तो केवल प्रमुख पुजारी ही जा सकते हैं, तुम्हें कैसे जाने दिया? मैंने भगवान् की भेंट में सोने के गहने और ज़री की पोशाकें दीं, फिर भी मुझे चौखट तक ही जाने दिया गया!"

हीरू ने दीवानजी के पैर पकड़ कर रोते हुए कहा—"बापजी, आप यह क्या कह रहे हैं? मैं तो उस रास्ते के गांव में रोगियों की सेवा के लिए कुछ दिनों तक रुका रहा और फिर वहीं से घर वापस आ गया। मुझसे बड़ा अपराध हो गया कि आपसे बिना पूछे, मैंने दल छोड़ दिया। आप-जैसे महापुरुषों के साथ का सुयोग पाने पर भी भगवान् के दर्शन-लाभ से वञ्चित रह गया।"

दीवानजी को असमञ्जस हुआ। कानों-सुनी बात झूठी हो सकती है, पर आंखों देखी नहीं। उन्हें हीरू की आंखों में अब भी भगवान् बदरी-विशाल की मूर्ति दिखायी दे रही थी। "भाई! तुम सचमुच ही प्रभु के प्यारे हो"—यह कहते हुए उन्होंने गद्गद होकर हीरू को गले लगा लिया।

'भूले न भुलाये' पुस्तक से —श्री रामेश्वर टांटिया

*कल सूर्योदय से सूर्यास्त के बीच*
*दो सुनहरे घण्टे कहीं खो गये,*
*प्रत्येक साठ हीरक पलों से जटित था;*
*कोई पुरस्कार नहीं घोषित किया गया इसके लिए,*
*क्योंकि वे हमेशा, हमेशा के लिए गुम हो गये हैं।*

*—होरास मान*

# सुग्रीव के श्रीराम

श्रीराम और श्रीकृष्ण के अनन्य भक्त श्री सुदर्शन 'चक्र' जी की लेखनी उनके जीवन के जिस प्रसंग को छू लेती है, भक्तों की आंखों में जल भर देती है। रामायण या महाभारत की छोटी-से-छोटी कथा भी भक्ति, प्रेम के पुट से झिलमिलाती है। ऐसा ही यह कथा-प्रसंग है जब सुग्रीव को श्रीराम के बल का प्रथम परिचय मिला।

बाली से त्रस्त सुग्रीव ऋष्यमूक पर्वत की परिधि से बाहर नहीं निकल पाता था। अपने चार विश्वस्त साथियों के साथ इसी घेरे में रहता था। श्रीराम-लक्ष्मण के साथ सुग्रीव का प्रथम मिलन यहीं हुआ था जब भगवान् ने प्रार्थी बन कर, सीतान्वेषण के लिए सुग्रीव की सहायता चाही थी। यहीं अग्निदेव की साक्षी में श्रीराम और सुग्रीव एक दूसरे की सहायता के लिए वचनबद्ध हुए थे—

"आप मेरे सखा, सुहृद, मित्र हुए।" सुग्रीव ने गद्गद स्वर में कहा —"हमारे सुख-दुःख, स्वार्थ एक हो गये। आपका शत्रु मेरा शत्रु और आपका मित्र मेरा मित्र रहेगा। मैं अपने पिता भुवन-भास्कर को भी साक्षी करता हूं।"

"मित्र सुग्रीव! भगवान् सूर्य हम इक्ष्वाकुवंशीयों के कुलपुरुष हैं।" श्रीराम मेघ-गम्भीर स्वर में बोले, "राम को कभी कोई बात दो बार नहीं करनी पड़ती। तुम्हारी मैत्री राम को स्वीकार है।"

इस तरह एक-दूसरे के सामने प्रतिज्ञा कर सुग्रीव ने फिर कहा, "स्वामी, आपका दास हूं मैं। यद्यपि बाली के भय से मैं इस स्थान को छोड़ कर कहीं आ-जा नहीं सकता लेकिन विपत्ति के समय के ये मेरे चारों परम मित्र—रीछराज जाम्बवन्त, हनुमान, नल और नील—सीताजी का पता लगा कर रहेंगे। आप इन पर विश्वास रखिये।"

श्रीराम ने सुग्रीव का हाथ थाम अपने वक्ष से लगा लिया, आंखें उनकी भीग चुकी थीं। इतने में लक्ष्मण की नम्र वाणी सुनायी दी, "आप भी अब निर्भय हो जायें मित्र। मेरे इन अग्रज का स्वरूप ही अभय है। इनके आश्रित के लिए त्रिभुवन में कहीं किसी से कोई भय नहीं रह जाता।"

"मैं तुम्हारे शत्रु का अवश्य काम तमाम कर दूंगा।" श्रीराम की परम आश्वासक वाणी सुनायी दी। "मेरे बाण अमोघ हैं सुग्रीव।"

प्रभु के वचन सुन सुग्रीव का हृदय गद्‌गद हो उठा, लेकिन बाली के शौर्य और पराक्रम की याद आते ही उसका मस्तिष्क झनझना उठा, तापसवेशी श्रीराम के सामर्थ्य पर मन ही मन एक हलका-सा प्रश्नचिह्न लग गया। उसकी शिथिलता वाणी में भी झलक उठी, "आप दोनों ठीक ही कहते हैं प्रभो, रावण के अन्वेषण में मैं आपकी पूरी-पूरी सहायता करूंगा। सुना है कि कहीं समुद्र के मध्य में उसकी स्वर्णपुरी लंका है, देव, वह परम पराक्रमी है। उस पर विजय पाना या उसे मार गिराना देवताओं के लिए भी बहुत कष्टसाध्य है, और स्वामिन्‌, इधर बाली के पराक्रम का भी अनुमान लगाना असम्भवप्राय है। सूर्योदय के पहले वह पूर्व समुद्र से पश्चिम समुद्र और वहां से उत्तर और दक्षिण के समुद्र भी कूद जाता है। पर्वतों को गेंद की तरह उछालता है।"

श्रीराम और लक्ष्मण को अपनी ओर निर्निमेष, मन्द-मन्द मुस्कुराते देख सुग्रीव अटक गये, नम्रताभरे स्वर में हाथ जोड़ कर बोले, "भगवन्‌, क्षमा करें। मैं आपकी शरण में हूं, जानता हूं आप दोनों महापराक्रमी, शूरवीर हैं, लेकिन बाली के पराक्रम का डंका समस्त लोक में पिटता है। मैं आपको भयभीत नहीं कर रहा, बल्कि उसके आतंक का स्मरण कर स्वयं भयभीत हो रहा हूं। प्रभो! यह जो सामने श्वेत पर्वत दीखता है वह पर्वत नहीं है, दुन्दुभि दानव की अस्थियां हैं। बाली ने दुन्दुभि को उठा कर दो सौ धनुष दूर तक फेंक दिया था। तब से ये पहाड़ की तरह यहां पड़ी हैं। किसी की सामर्थ्य नहीं कि इसे अंगुष्ठ-मात्र भी हटा कर..."

सुग्रीव का वाक्य समाप्त होने से पहले श्रीराम निःशब्द उठे। उस अस्थि-पर्वत के समीप गये, और अपने बायें पैर के अंगूठे के स्पर्शमात्र से उन्होंने उस अस्थि-समूह को उठा कर इतनी दूर फेंक दिया कि सबकी आंखों से ओझल हो गया। वह तो बाद में हनुमान ने उछल कर देखा और बतलाया कि वे अस्थियां दस योजन दूर वन के निर्जन स्थान में गिर कर चूर-चूर हो गयी थीं।

"देव! आप महान्‌ हैं, समर्थ और शक्तिशाली हैं। मुझ भयभीत वानर के अपराध को क्षमा करें," सुग्रीव ने हाथ जोड़ कर बहुत ही दीन वाणी में कहा। लेकिन अब तक उसके तन-मन में बाली के असीम बल का हौआ जम कर बैठा हुआ था। उसी तरह सिर झुका कर बोला, "प्रभो! दुन्दुभि

महादानव, महाकाय था। जब बाली ने उसको दोनों हाथों से उछाल कर फेंका तब बहुत मांस, रक्त, मेद था उस दानव-शरीर में। इससे दुगुने से अधिक भार रहा होगा उस महापराक्रमी दानव का। अब तो उसकी मात्र अस्थियां रह गयी हैं और वे भी बिलकुल पोली होकर सूख चुकी हैं।"

श्रीराम लक्ष्मण की ओर देख, आंखों ही आंखों में मुस्कुराये और लक्ष्मण फुसफुसाये, "देव, यह बेचारा सुग्रीव! कितने गहरे डूबा हुआ है अपने भाई के आतंक-समुद्र में। उबरना ही नहीं चाह रहा!"

लक्ष्मण की बात सोलहों आने सच थी। वह 'बाली' शब्द से इतना सहमा हुआ था कि उसने इस तथ्य पर भी ध्यान न दिया कि दोनों हाथों की सम्पूर्ण शक्ति लगा कर दानव को फेंकने वाला बाली आज अपने बायें पैर के अंगूठे से इस अस्थि-समूह को तिल भर भी हिला पाता इसमें बहुत सन्देह था...। प्रत्यक्ष प्रमाण देखने के बाद भी वह सन्देह का अंकुर जड़ से न उखड़ा था क्योंकि श्रीराम-लक्ष्मण के वेष के साथ-साथ उनके कन्धों पर लटके तरकशों को देख सुग्रीव ने मन ही मन कहा था—इतने हलके-फुलके तूणीर! उनमें भी केवल छोटे-छोटे पांच-पांच बाण। दोनों के पास दो-दो तरकश भी हुए तो क्या हुआ, कुल मिला कर बीस बाण और एक छोटी तलवार। इतने कम अस्त्रों के साथ ये घोर वन में राक्षसों और दानवों को मारने आ गये! कितने भी कुशल लक्ष्यवेधी हों लेकिन फिर भी कुल बीस बाणों के बल पर युद्ध तो नहीं किया जा सकता, भयंकर बाली को तो नहीं जीता जा सकता...।

इसी मानसिक ऊहापोह में झूल रहा था सुग्रीव। निस्सन्देह बहुत ही प्रभावित हो गया था वह श्रीराम के पराक्रम के सम्मुख, लेकिन शत्रु की वीरता का स्पष्ट चित्र खींच देना उसने फिर भी आवश्यक समझा, अतः अञ्जलि बांध, घुटने टेक, कुछ दूर इशारा कर बोल उठा, "भगवन्! देख रहे हैं न वहां आप सात ताड़-वृक्ष। इसके पीछे की कहानी भी सुना दूं आपको, ताकि उसकी शक्ति का और परिचय मिल जाये।"

सर्वज्ञानी अपने सेवक को सन्देहमुक्त करने के लिए बड़ी लगन से कथा सुनने लगे।

"नाथ" सुग्रीव ने कथा आरम्भ की—बहुत समय पहले की बात है, एक बार बाली कहीं से सात पके हुए ताड़-फल ले आया। फलों को यहां

रख कर वह स्नान करने चला गया। लौटने पर देखा कि एक महासर्प उसके फलों के ऊपर लेटा हुआ है।

विषधर को देख एक झटके में बाली का क्रोध शिखर पर चढ़ गया। तुरन्त उस सांप को शाप दे बैठा—दुष्ट, तूने मेरे फलों को दूषित कर दिया, जब कि तू इन्हें खा नहीं सकता। अब ये फल तेरा शरीर फोड़ कर उगेंगे और वृक्ष बनेंगे।

बाली के वचन सुन सर्प भी क्रोध से फुफकार उठा, बोला—इनकी गन्ध से आकृष्ट हो बढ़ आया इस दिशा में, इन चिकने, ठण्डे फलों का सुखद स्पर्श पा इन पर लेट गया, मैंने इनको मुंह नहीं लगाया। तूने मुझ निरपराध को बिना सोचे-समझे शाप दे दिया, अतः, इन फलों से उगे वृक्षों को जो नष्ट कर देगा, उसी के द्वारा तू मारा जायेगा। देखिये नाथ, ताड़ के ये विशेष वृक्ष एक ही सर्प के शरीर पर उगे, मूल से परस्पर इतने उलझे हुए और सुदृढ़ हैं कि कितनी भी आंधियां चलें, आकाश बरस कर टूटने-टूटने को हो आये, प्राकृतिक विपदाओं की बाढ़ आ जाये, बड़े-से-बड़े पेड़ धराशायी हो जायें, लेकिन ये सात ताड़-वृक्ष अडिग हैं और सम्भवतः अडिग ही रहें...।

सुग्रीव के इस वाक्य के समाप्त होने से पहले ही श्रीराम अपने बायें कन्धे से धनुष उतार कर उस पर प्रत्यञ्चा चढ़ा चुके थे, तरकश से एक बाण निकाल कर उसे धनुष पर चढ़ाया और प्रत्यञ्चा को हलका-सा खींच कर बाण छोड़ दिया। सर्प के शरीर पर उगे होने के कारण वे पेड़ सीधी लकीर में नहीं, सर्पाकार पंक्ति में थे। एक बाण ने सातों को धरती के समीप से काट दिया। धरती डोल गयी। भयंकर गर्जना के साथ सातों वृक्ष एक साथ पृथ्वी पर गिर पड़े, इतना ही नहीं, बाण वृक्षों को काट कर घूमा और श्रीराम के तरकश में आ पहुंचा!!

"भगवन्, देव, नाथ!" कहते-न-कहते सुग्रीव कटे वृक्ष की भांति अपने स्वामी के चरणों में गिर पड़ा। "स्वामी, मेरे समर्थ स्वामी! मैंने अपने अज्ञान के कारण अब तक जो अशिष्ट व्यवहार आपके साथ किया उसे एक नीच वानर की क्षुद्रता समझ कर कृपया क्षमा कर दें।" श्रीराम ने झुक कर उसे उठाया, बड़े प्रेम से अंक में भींच लिया। सुग्रीव को तो मानों होश नहीं। वह अपने भगवान् से सुबक-सुबक कर हाथ बांधे कहे चला

जा रहा था, "नाथ! कितना मूर्ख हूं मैं। आपके ऊपर यह देख कर सन्देह कर बैठा कि इस बीहड़ वन में दैत्यों और दानवों का नाश करने के लिए तरकश में इतने थोड़े बाण लेकर चले हैं आप। लेकिन नाथ, जब आपका प्रत्येक बाण तरकश में वापिस लौट आता है तब तो इतने सारे बाणों की भी कोई आवश्यकता ही नहीं है आप दोनों को।"

लक्ष्मण अग्रज को देख-देख कर मन्द-मन्द मुस्कुराते जा रहे थे, अग्रज की बांहों में बद्ध सुग्रीव की वाणी अब तक मुखर थी, "देव! आप सर्वसमर्थ हैं। इस अधम वानर को अपने चरणों का दास स्वीकार करें। बाली ने मेरा सब कुछ हर कर मेरा कितना बड़ा उपकार किया। वह तो मेरा सबसे बड़ा मित्र निकला। उसी की कृपा से आज मुझे त्रिलोक के स्वामी का अंक मिला। प्रभो! बाली का मंगल हो, वह हमेशा के लिए राजा बना रहे। मुझे तो बस अब आप अपने इन चरणों में स्थान देकर हमेशा अपने साथ रखें। श्रीजानकीजी की खोज में मैं अपना तन-मन सब कुछ अर्पित कर दूंगा।" सुग्रीव अपने आराध्य के चरणों में फिर साष्टांग प्रणत हो गया।

प्रत्येक के हृदय में अन्तर्यामी बने बैठे श्रीराम ने मुस्कुरा कर अपने प्रिय भक्त से कहा, "सखे सुग्रीव! एक बार जिस सच्चे हृदय ने राम का हाथ थाम लिया उसने राम को जन्म-जन्मान्तर के लिए मोल ले लिया, तुमसे छूटने का तो सवाल ही नहीं उठता अब मेरे लिए। हृदय तुम्हारा निर्मल, स्वच्छ है, राज्य का तुम्हें कोई मोह नहीं, लेकिन मैं भी अपने वचन से बंधा हूं, अतः तुम्हें मेरे सत्य की रक्षा करनी होगी। मैंने तुम्हारे विरोधी को मार देने की प्रतिज्ञा की है, उसे सत्य होने दो और फिर मेरे कार्य को सम्पन्न करने के लिए कृपया बाली के मरने पर वानरेन्द्र-पद स्वीकार करो।"

भगवान् भक्त से कह रहे हैं, "मेरे कार्य को सम्पन्न करने के लिए कृपया..." सुग्रीव श्रीराम को अहोभाव से ताकता रह गया। अश्रुपूरित नेत्र बोल उठे—अपने दास को सम्मान के शिखर पर बैठाना तो कोई इनसे सीखे!

—वन्दना

---

**अग्निशिखा का वार्षिक शुल्कः**

एक वर्ष—१८० रु.; तीन वर्ष—५२० रु.; पांच वर्ष—८६० रु.।

पत्रिका हर महीने की ४ तारीख को प्रेषित की जाती है।

उनकी कृपा का स्पर्श कठिनाई को सुयोग में, विफलता को सफलता में और दुर्बलता को अविचल बल में परिणत कर देता है। भगवती माँ की कृपा परमेश्वर की अनुमति है, आज हो या कल, उसका फल निश्चित है, पूर्वनिर्दिष्ट अवश्यंभावी और अनिवार्य है ।

– श्रीअरविन्द

अमरनाथ शिक्षण संस्थान, मथुरा (उ.प्र.)

फोन– 0565–3240006, 9358340375

Website : anvaschool.org, Email-amarnath.mtr1@rediffmail.com

Date of Publication: 1st December 2016
**Rs. 15.00** (Monthly) Registered: SSP/PY/47/2015-2017
RNI No.18135/70 WPP No.TN/PMG/(CCR)/WPP-472/15-17

A school by The Vatika Group vatika

## Holistic

"MatriKiran believes in holistic development and Yoga, Clay Modelling, Indian Music and Ballet are part of its curriculum. The need for extra classes does not arise at all."

*Upasana Mahtani Luthra*
*Mother of Nanak, Grade 4 and Nitu Luthra, Grade 6*

## Nature Friendly

"Being a doctor myself, it was very important for me that the school environment should be healthy. Class rooms in MatriKiran are nature friendly, spacious, well ventilated and they open out to green spaces... in communion with nature."

*Dr Nidhi Gogia*
*Mother of Sohani Sharma, Grade 1*

**ADMISSIONS OPEN**
Academic Year 2016-17

MatriKiran

*Junior School* SOHNA ROAD
Pre Nursery to Grade 5

*Senior School* VATIKA INDIA NEXT
Grade 6 to Grade 8

www.matrikiran.in | +91-124-4938200, +91-9650690222
**Junior School**: W Block, Sec. 49, Sohna Rd, Gurgaon • **Senior School**: Sec. 83, Vatika India Next, Gurgaon